मासिक समाचारपत्र ● पूर्णांक 111 ● वर्ष 12, अंक 6 ● अगस्त 2022 ● दस रुपये ● 16 पृष्ठ

मज़दूर बिगुल

'भारत छोड़ो आन्दोलन' : एक जनविद्रोह जो पूँजीपति वर्ग के वर्चस्व से निकलकर क्रान्तिकारी दिशा में जा सकता था 5

एक बार फिर विकल्पहीनता की स्थिति से गुज़रती श्रीलंका की जनता 7

"सादगीपसन्द" और "परोपकारी" पूँजीपतियों की असलियत 15

जनता के जनवादी व नागरिक अधिकारों की हिफ़ाज़त के लिए सड़कों पर उतरकर संघर्ष करना मज़दूर वर्ग के लिए अस्तित्व का प्रश्न है

जनवादी व नागरिक अधिकारों के लिए जुझारू जनान्दोलन खड़ा करो!

सम्पादकीय

हम 'मज़दूर बिगुल' के पन्नों पर मोदी के सत्ता में आने के पहले से ही बार-बार यह लिखते रहे हैं कि आज के दौर के फ़ासीवाद की ख़ासियत यह है कि यह नात्सी पार्टी व हिटलर तथा फ़ासिस्ट पार्टी व मुसोलिनी के समान बहुदलीय संसदीय बुर्जुआ जनतंत्र को भंग नहीं करेगा। आम तौर पर, यह बुर्जुआ चुनावों को बरक़रार रखेगा, संसदों और विधानसभाओं को बरक़रार रखेगा व काग़ज़ी तौर पर बहुतेरे जनवादी-नागरिक अधिकारों को भी औपचारिक तौर पर बनाये रखेगा। लेकिन **पूँजीवादी जनवाद का केवल खोल ही बचेगा और उसके अन्दर का माल-मत्ता नष्ट हो जायेगा**। आज हमारे देश में यही हो रहा है।

एक ओर व्यापक मेहनतकश जनता के जनवादी-नागरिक अधिकारों को लगातार अभूतपूर्व रूप से छीना जा रहा है; मोदी सरकार का विरोध करने वाली किसी भी आवाज़ को निर्ममता से दबा दिया जा रहा है; और मज़दूर वर्ग और व्यापक मेहनतकश जनता के पक्ष में आवाज़ उठाने वाले बुद्धिजीवियों, पत्रकारों, वकीलों, कलाकारों को सोशल मीडिया पर डाली गयी उनकी किसी पोस्ट के बहाने तो कभी उनकी किसी पुस्तक, किसी कलाकृति के "राष्ट्र-विरोधी" होने के नाम पर गिरफ़्तार किया जा रहा है, उन पर फ़र्ज़ी मुक़दमे डाले जा रहे हैं और, अगर वे अन्त में दोषमुक्त हो भी जायें, तो उससे पहले हफ़्तों, महीनों या वर्षों तक उन्हें जेलों में सड़ाया जा रहा है। पूँजीवादी न्यायपालिका द्वारा जब एक केस या मुक़दमा ख़ारिज होता है, तब तक फ़ासीवादी मोदी सरकार दूसरा मुक़दमा जनता के पक्ष में आवाज़ उठाने वाले ऐसे कार्यकर्ताओं व बुद्धिजीवियों पर डाल देती है। इसी सिलसिले में बीते दिनों तीस्ता सेतलवाड़, मुहम्मद ज़ुबैर, रूपेश कुमार जैसे प्रगतिशील मानवाधिकार कार्यकर्ताओं और पत्रकारों को गिरफ़्तार किया गया। इसी प्रकार हिमांशु कुमार जैसे जनअधिकारों के लिए समर्पित गाँधीवादी कार्यकर्ता को भी पूँजीवादी न्यायपालिका के ज़रिए सताने का सिलसिला जारी है। हालिया दिनों में भारत की पूँजीवादी न्यायपालिका ने जैसे फ़ैसले दिये हैं, उस पर तो कई वकीलों और भूतपूर्व न्यायाधीशों ने ही सवाल उठा दिये। अगर किसी को ऐसा लगता है कि मोदी सरकार की कैबिनेट बैठक में ही ये फ़ैसले तय हो जाते हैं तो इसमें कोई ताज्जुब की बात नहीं है!

इसके अलावा, संसद और विधानसभा के भीतर मौजूद पहले से ही नाकारा और पंगु पूँजीवादी विपक्ष को पूरी तरह से लकवाग्रस्त बना देने के लिए भाजपा की फ़ासीवादी मोदी सरकार ने दो तरीक़ों का इस्तेमाल किया है।

पहला, भारत के पूँजीपति वर्ग के अभूतपूर्व समर्थन के बूते हासिल हुई पूँजी की शक्ति द्वारा बुर्जुआ विपक्षी पार्टियों को निष्प्रभावी बना देना और दूसरा, सरकारी जाँच एजेंसियों का इस्तेमाल करके विपक्षी पार्टियों की बाँह मरोड़ना और पहले से ही घुटनों पर पड़े बुर्जुआ विपक्ष को अपने सामने पूरी तरह से दण्डवत करवा देना। ज़ाहिर है, भाजपा की मोदी सरकार अपने इन कारनामों को करने में इसलिए भी कामयाब होती है क्योंकि उसके पीछे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के रूप में एक काडर-आधारित और अनुशासित फ़ासीवादी पार्टी भी है और साथ ही उसके पीछे टुटपुँजिया

(पेज 11 पर जारी)

द्रौपदी मुर्मू बनीं देश की पहली आदिवासी राष्ट्रपति

क्या इससे आम मेहनतकश आदिवासियों की जीवन स्थिति में कोई बदलाव आयेगा?

– सार्थक

हाल ही में हुए राष्ट्रपति चुनाव में भाजपा-नीत राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबन्धन की उम्मीदवार द्रौपदी मुर्मू जीत हासिल कर भारत की 15वीं राष्ट्रपति बन गयी हैं। राष्ट्रपति चुनाव में द्रौपदी मुर्मू ने विपक्ष के उम्मीदवार यशवन्त सिन्हा (जो पहले ख़ुद भाजपा के वरिष्ठ नेता और कैबिनेट मंत्री रह चुके हैं) को भारी मतों से परास्त किया। इस तरह द्रौपदी मुर्मू देश के सर्वोच्च संवैधानिक ओहदे पर बैठने वाली दूसरी महिला और प्रथम आदिवासी बन गयीं। द्रौपदी मुर्मू ओड़िशा के मयूरभंज ज़िले के रायरंगपुर शहर से आती हैं और सन्थाल जनजाति से ताल्लुक़ रखती हैं।

द्रौपदी मुर्मू को राष्ट्रपति बनाकर भाजपा ने एक तीर से दो निशाने साधे हैं। पहला, इसके ज़रिए मोदी और भाजपा को आदिवासी कल्याण के हितेषी के रूप में स्थापित करना। वैसे तो राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और संघ परिवार मध्य और पूर्वी भारत के आदिवासी बहुल इलाक़ों में लम्बे समय से काम कर रहे हैं और अपनी जड़ों का काफ़ी गहराई तक विस्तार कर चुके हैं। झारखण्ड, ओड़िशा, छत्तीसगढ़ और मध्य प्रदेश के आदिवासी बहुल चुनाव क्षेत्रों से भाजपा को अच्छी चुनावी सफलता भी मिलती रही है। लेकिन साथ ही इन इलाक़ों में बड़ी पूँजी की लूट भी बढ़ती जा रही है, आदिवासियों का शोषण, विस्थापन और उत्पीड़न भी बढ़ता जा रहा है। बड़ी पूँजी के हाथों उजड़ रहे आदिवासियों के बीच भाजपा के ख़िलाफ़ एक ग़ुस्सा भी है। आदिवासी समुदाय से आने वाली महिला को राष्ट्रपति बनाकर भाजपा ने इस ग़ुस्से पर ठण्डा पानी छिड़कने का प्रयास किया है। साथ ही यह चाल आने वाले 2024 के लोकसभा चुनाव में आदिवासी वोट बैंक को भाजपा के पक्ष में सुरक्षित रखने में भी बड़ी भूमिका निभायेगा। दूसरा, द्रौपदी मुर्मू के राष्ट्रपति बनने को न केवल आदिवासी समाज के लिए गर्व की बात बतायी जा रही है बल्कि इसे ओड़िशा राज्य के लिए भी बड़े गर्व का विषय बताया जा रहा है। इसे ओड़िशावासियों के लिए 'मोदी जी का तोहफ़ा' कहा जा रहा है। इसके पीछे भाजपा की मंशा साफ़ है – 2024 के लोकसभा और ओड़िशा विधानसभा के चुनाव। पिछले कुछ

(पेज 6 पर जारी)

बजा बिगुल मेहनतकश जाग, चिंगारी से लगेगी आग!

केन्द्रीय मंत्री स्मृति ईरानी की बेटी द्वारा अवैध रूप से शराबख़ाना चलाने का मामला

झूठ-फ़रेब, घोटाले, भ्रष्टाचार और मक्कारी, है भाजपाइयों-संघियों की जन्मजात बीमारी!

– आशीष

देश में एक ओर नौजवानों की भारी आबादी बेकारी-बेरोज़गारी के धक्के खाने को मजबूर है और दूसरी ओर नेताओं के बाल-बच्चे मलाई चाट रहे हैं। मोदी सरकार में महिला एवं बाल विकास विभाग की कैबिनेट मंत्री स्मृति ईरानी की बेटी ज़ोइश ईरानी द्वारा गोवा के असगाओ में संचालित 'सिली सोल्स कैफ़े एण्ड बार' नामक एक रेस्टोरेण्ट में अवैध तरीक़े से शराबख़ाना चलाये जाने का मामला सामने आया है। एक शिकायतकर्ता के द्वारा मामला उठाये जाने के बाद इस रेस्तरां के ऊपर कारण बताओ नोटिस जारी किया गया है। इस मामले में कई सारे गम्भीर आरोप लगे हैं। शराब के लाइसेंस को पाने के लिए झूठे एवं ग़ैर-क़ानूनी दस्तावेज़ पेश किये गये हैं। जून 2022 में शराब का लाइसेंस लेने के लिए एन्थनी डीगामा नामक एक व्यक्ति के नाम से आवेदन किया गया जबकि मई 2021 में ही इस आदमी की मौत हो चुकी है। इसके साथ यह कहा जा रहा है कि गोवा में बार के लिए किसी रेस्टोरेण्ट को केवल एक लाइसेंस दिया जा सकता है जबकि यहाँ दो लाइसेंस दिये गये हैं। इसके साथ ही यह आरोप भी है कि यह रेस्टोरेण्ट रजिस्टर्ड नहीं है।

इस भ्रष्टाचार की कलई खुलने के बाद स्मृति ईरानी खुलकर अपनी बेटी के बचाव में तथ्यों को झूठलाने और दबाने का भरपूर प्रयास कर रही हैं। सत्ता की ताक़त के बावजूद स्मृति ईरानी के लिए तथ्यों से मुँह फेर पाना आसान नहीं है। उनकी पूरी कोशिश हास्यास्पद और नौटंकी ही प्रतीत होती है। एक ख़बर के मुताबिक़ इसी साल के अप्रैल महीने में स्मृति ईरानी रेस्टोरेण्ट के लिए अपनी बेटी की प्रशंसा में इतना तक बोल चुकी हैं कि अपनी बेटी की माँ होने पर उसे गर्व है। अब मामला प्रकाश में आने के बाद केन्द्रीय मंत्री अपनी बेटी को विदेश के एक विश्वविद्यालय की छात्रा बता रही हैं तथा रेस्टोरेण्ट चलाने की बात को नकार रही हैं। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इस प्रकार की सच्चाइयों के ज़रिए बीजेपी नेताओं के दोमुँहे चरित्र को सहज ही समझा जा सकता है। सरकारी चाकर बन चुके हाई कोर्ट से ईरानी ने अपने पक्ष में फ़ैसला करवा लिया लेकिन अंग्रेज़ी अख़बार इण्डियन एक्सप्रेस ने 3 अगस्त की अपनी रिपोर्ट में ख़ुलासा किया है कि किस तरह मंत्री ईरानी और उनका परिवार बेनामी ढंग से इस रेस्टोरेण्ट और अन्य सम्पत्तियों का असली मालिक है।

इस पूरे प्रकरण ने एक बार फिर बीजेपी द्वारा परिवारवाद की राजनीति पर विपक्षी बुर्जुआ चुनावबाज़ पार्टियों पर ज़ुबानी पैंतरेबाज़ी का ज़ोर आज़माते रहने की हक़ीक़त का पर्दाफ़ाश कर दिया है। जो लोग अभी भी आँखें बन्द किये हुए हैं वह भी आँखें खोलकर देखें तो सच्चाई नग्न आँखों से आपको सीधे दिख जायेगी। आम मेहनतकश मज़दूर व निम्न मध्यम वर्ग से आने वाले परिवारों के बच्चों के लिए आरएसएस-भाजपा के नेताओं ने साम्प्रदायिकता, नफ़रत, उन्माद आदि के साथ-साथ बेकारी-बेरोज़गारी का प्रबन्ध किया है तो वही अपने बच्चों के लिए क़ानूनी और ग़ैर-क़ानूनी सभी प्रकार के रास्तों से पद-प्रतिष्ठा, विदेशों में शिक्षा-दीक्षा तथा तमाम क़िस्म की सुख-सुविधाओं का इन्तज़ाम किया है। देश में एक बड़ी आबादी है जो स्कूली शिक्षा ग्रहण करने के बाद कॉलेज, विश्वविद्यालय की दहलीज तक नहीं पहुँच पाती लेकिन जेपी नड्डा से शिवराज सिंह चौहान के बच्चे विदेशों में आराम से पढ़ाई कर रहे हैं। यहाँ सालों तक पढ़ाई-लिखाई करने के बावजूद नौजवानों का कोई भविष्य नहीं होता, वहीं देश के गृहमंत्री का बेटा जय शाह भारतीय क्रिकेट नियंत्रण बोर्ड (बीसीसीआई) का सचिव है। भाजपा के पूर्व नेता वर्तमान उपराष्ट्रपति एम वेंकैया नायडू का बेटा हर्षवर्धन नायडू एक मोटर कम्पनी का बहुत बड़ा डीलर है। सरकार और हर्षवर्धन नायडू के बीच अनुबन्ध में भ्रष्टाचार के आरोप भी लग चुके हैं। राजनाथ सिंह समेत कई ऐसे नेता हैं जिनके बेटे-बेटियाँ विधायक-सांसद बने बैठे हैं। राजनाथ सिंह का बेटा पंकज सिंह उत्तर प्रदेश में विधानसभा का सदस्य है। परिवारवाद के मामले में बीजेपी किसी भी दूसरी बुर्जुआ पार्टी से कहीं भी पीछे नहीं है चाहे ज़ुबानी तौर पर बीजेपी के नेता जितना चीख़-पुकार मचा लें परन्तु वास्तविकता तो यही है।

ज़ोइश ईरानी के रेस्टोरेण्ट के मामले में कथित तौर पर उस रेस्टोरेण्ट का मेनू सामने आया है जिसमें यह बात खुलकर सामने आ रही है कि वहाँ पर गौमांस, बीफ़ और सुअर का मांस भी परोसा जाता है। भाजपा के लोग गाय को माता बताते हैं और इनके समर्थकों ने गौ हत्या के नाम पर अनेकों जगहों पर भीड़ द्वारा इन्सानों की हत्या (मॉब लिंचिंग) तक को अंजाम दिया है। गाय के नाम पर बीजेपी राजनीतिक रोटियाँ सेंकने का काम करती है जबकि वास्तविकता यही है कि अपने मुनाफ़े के लिए गौमांस परोसने में भी इनके नेताओं को कोई गुरेज़ नहीं है।

वैसे तो आमतौर पर सभी पूँजीवादी चुनावबाज़ पार्टियों के नेता-मंत्री सत्ता में बैठकर अपनी तिजोरियाँ भरते ही हैं और अपने परिवार को स्वर्ग-सा जीवन देते हैं। पर इसमें भाजपा एक क़दम और आगे है। ये संघी-भाजपाई एक तरफ़ अपने और अपने आक़ाओं के लिए जनता की अकूत सम्पत्ति लूट रहे हैं, वहीं दूसरी तरफ़ आम घरों के नौजवानों को शिक्षा-रोज़गार देने के बजाय ये उन्हें दंगाई बनाना चाहते हैं। ये चाहते हैं कि आज के नौजवान इनके ख़िलाफ़ लड़ने के बजाय आपस में ही लड़ते रहें। तभी दिल्ली दंगे हों या जहाँगीरपुरी में हुए दंगे हों, इनकी कोशिश मस्तिष्क-मृत युवाओं की एक नस्ल तैयार करने की है जो सिर्फ़ इनके इशारे पर चलें, अपने हक़-अधिकार, शिक्षा-रोज़गार न माँगें और इनके कहने पर क़त्लेआम मचा दें। वहीं अपने बच्चों को ये दुनिया के सारे ऐशोआराम मुहैया कराते हैं। यही है इन भाजपाइयों, संघियों का असल चरित्र।

अपने कारख़ाने, वर्कशॉप, दफ़्तर या बस्ती की समस्याओं के बारे में, अपने काम के हालात और जीवन की स्थितयों के बारे में हमें लिखकर भेजें। आप व्हॉट्सएप पर बोलकर भी हमें अपना मैसेज भेज सकते हैं। नम्बर है : 9721481546

"बुर्जुआ अख़बार पूँजी की विशाल राशियों के दम पर चलते हैं। मज़दूरों के अख़बार ख़ुद मज़दूरों द्वारा इकट्ठा किये गये पैसे से चलते हैं।" **– लेनिन**

'मज़दूर बिगुल' मज़दूरों का अपना अख़बार है।

यह आपकी नियमित आर्थिक मदद के बिना नहीं चल सकता।
बिगुल के लिए सहयोग भेजिए/जुटाइए।
सहयोग कूपन मँगाने के लिए मज़दूर बिगुल कार्यालय को लिखिए।

मज़दूर बिगुल की वेबसाइट
www.mazdoorbigul.net

इस वेबसाइट पर दिसम्बर 2007 से अब तक बिगुल के सभी अंक क्रमवार, उससे पहले के कुछ अंकों की सामग्री तथा राहुल फ़ाउण्डेशन से प्रकाशित सभी बिगुल पुस्तिकाएँ उपलब्ध हैं। बिगुल के प्रवेशांक से लेकर नवम्बर 2007 तक के सभी अंक भी वेबसाइट पर क्रमशः उपलब्ध कराये जा रहे हैं।
मज़दूर बिगुल का हर नया अंक प्रकाशित होते ही वेबसाइट पर निःशुल्क पढ़ा जा सकता है।
आप इस फ़ेसबुक पेज के ज़रिए भी 'मज़दूर बिगुल' से जुड़ सकते हैं :
www.facebook.com/MazdoorBigul

'मज़दूर बिगुल' का स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियाँ

1. 'मज़दूर बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मज़दूर आन्दोलन के इतिहास और सबक़ से मज़दूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफ़वाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।

2. 'मज़दूर बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और 'बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मज़दूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3. 'मज़दूर बिगुल' स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के बीच राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी-चवन्नीवादी भूजाछोर "कम्युनिस्टों" और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की क़तारों से क्रान्तिकारी भर्ती के काम में सहयोगी बनेगा।

5. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

प्रिय पाठको,

बहुत-से सदस्यों को 'मज़दूर बिगुल' नियमित भेजा जा रहा है, लेकिन काफ़ी समय से हमें उनकी ओर से न कोई जवाब मिला और न ही बकाया राशि। आपको बताने की ज़रूरत नहीं कि मज़दूरों का यह अख़बार लगातार आर्थिक समस्या के बीच ही निकालना होता है और इसे जारी रखने के लिए हमें आपके सहयोग की ज़रूरत है। अगर आपको 'मज़दूर बिगुल' का प्रकाशन ज़रूरी लगता है और आप इसके अंक पाते रहना चाहते हैं तो हमारा अनुरोध है कि आप कृपया जल्द से जल्द अपनी सदस्यता राशि भेज दें। आप हमें मनीऑर्डर भेज सकते हैं या सीधे बैंक खाते में जमा करा सकते हैं।

मनीऑर्डर के लिए पता :
मज़दूर बिगुल, द्वारा जनचेतना
डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020
बैंक खाते का विवरण : Mazdoor Bigul
खाता संख्या : 0762002109003787, IFSC: PUNB0185400
पंजाब नेशनल बैंक, अलीगंज शाखा, लखनऊ

सदस्यता : वार्षिक : 125 रुपये (डाकख़र्च सहित); आजीवन : 3000 रुपये

मज़दूर बिगुल के बारे में किसी भी सूचना के लिए आप हमसे इन माध्यमों से सम्पर्क कर सकते हैं :
फ़ोन : 0522-4108495, 9721481546
ईमेल : bigulakhbar@gmail.com
फ़ेसबुक : www.facebook.com/MazdoorBigul

मज़दूर बिगुल

सम्पादकीय कार्यालय	: 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 फ़ोन: 9721481546
दिल्ली सम्पर्क	: बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर, दिल्ली-90, फ़ोन: 9289498250
ईमेल	: bigulakhbar@gmail.com
मूल्य	: एक प्रति – 10/- रुपये वार्षिक – 125/- रुपये (डाक ख़र्च सहित) आजीवन सदस्यता – 3000/- रुपये

आटा-चावल, दाल-तेल-सब्ज़ियों की क़ीमतों में लगातार बढ़ोत्तरी
जनता पर तेज़ होती महँगाई की मार

– केशव आनन्द

'बहुत हुई महँगाई की मार, अबकी बार मोदी सरकार' का जुमला उछालकर सत्ता में आने वाली मोदी सरकार के आने के बाद जनता ने कभी महँगाई कम होती तो नहीं देखी, पर अपनी थाली में खाने की चीज़ें कम होती ज़रूर देखी हैं। 2014 के बाद पहले से जारी लूट को ही मोदी सरकार ने बढ़ाते हुए महँगाई की रफ़्तार को और भी तेज़ कर दिया। अब आलम यह आ गया है कि आटा, चावल, दाल, तेल पर भी जीएसटी लगाकर यह सरकार जनता की जेब पर डाका डालने की तैयारी में है। 18 जुलाई 2022 से मोदी सरकार ने खाने की बुनियादी चीज़ों पर पाँच प्रतिशत जीएसटी लगाने का फ़ैसला लिया है। इसके बाद से 25 किलो/25 लीटर से कम अनाज और तेल के दाम महँगे हो जायेंगे। ग़ौरतलब है कि इस बढ़ी हुई महँगाई का सबसे बड़ा और सबसे बुरा असर आम मेहनतकश आबादी पर पड़ेगा।

केन्द्रीय अप्रत्यक्ष कर एवं सीमा शुल्क बोर्ड ने बताया है कि 25 किलो से कम सभी प्री पैकेज्ड फ़ूड पर पाँच प्रतिशत जीएसटी लगायी जायेगी। इस नियम के मुताबिक़ 25 किलो से कम कोई भी खाद्य पदार्थ, जिसपर किसी भी संस्था का लेबल लगा है, वह अब महँगा हो जायेगा। खाद्य पदार्थों पर जीएसटी लगने के बाद मुख्यतः आटा, चावल, दाल, तेल, पनीर, दही जैसी चीज़ें महँगी होंगी। अब इस बात को समझने में कोई मानसिक कसरत करने की ज़रूरत नहीं है कि जीएसटी की इस नयी प्रणाली के आने से सबसे बड़ी मार किस पर पड़ेगी। ज़ाहिर है देश की आम मेहनतकश आबादी पर, जिसकी आय का एक बड़ा हिस्सा अनाज और सब्ज़ियाँ ख़रीदने में ही ख़र्च हो जाता है, जिसके लिए यह योजना मुसीबतों का पहाड़ लेकर आयेगी। पेट्रोल, डीज़ल, सिलेण्डर की क़ीमतों को आसमान पर ले जाने के बाद अब मोदी सरकार अवाम की थाली से अनाज भी ग़ायब कर रही है। लोगों की आय के मुक़ाबले महँगाई की बढ़ने की रफ़्तार कहीं ज़्यादा अधिक है। एक तरफ़ जहाँ नौकरियों की कमी के कारण बेरोज़गारों की संख्या बढ़ती जा रही है, और आम मेहनतकश आबादी सस्ती से सस्ती क़ीमतों पर अपनी श्रम शक्ति को बेचने के लिए मजबूर है, वहीं दूसरी ओर बुनियादी ज़रूरत की चीज़ों की क़ीमतें बढ़ाकर सरकार ने मज़दूरों-मेहनतकशों पर दोहरा हमला किया है।

जनता को भरमाने के लिए यह तर्क गढ़ा जाता है कि अप्रत्यक्ष कर बढ़ाकर सरकार जनता के लिए काम करेगी। उन्हें बेहतर स्वास्थ्य सुविधाएँ, शिक्षा, रोज़गार जैसी चीज़ें मुहैया करायेगी। लेकिन मौजूदा हालात तो यह बताते हैं कि जनता से लूटा हुआ पैसा या तो पूँजीपतियों को अपनी पूँजी बढ़ाने के लिए दिया जाता है, नहीं तो जनहित के नाम पर हमारे देश के नेतागण इन पैसों को डकार जाते हैं। वास्तव में, अप्रत्यक्ष कर तो मूलत: आम मेहनतकश जनता की मज़दूरी या वेतन से ही कटौती होते हैं और उन्हें पूरी तरह से समाप्त कर दिया जाना चाहिए। जहाँ तक जनता की बुनियादी सुविधाओं की बात है, तो क्या बड़े-बड़े पूँजीपतियों और धन्नासेठों पर अतिरिक्त कर लगाकर जनता की बुनियादी ज़रूरतें पूरी नहीं की जानी चाहिए? क्या लोगों की आय के हिसाब से उनसे लिये जाने वाले करों का बँटवारा नहीं किया जाना चाहिए? हालाँकि यह बात दीगर है कि इन पूँजीपतियों के पास जो मुनाफ़ा आता है, वह भी मज़दूरों के श्रम की लूट के ज़रिए ही आता है। पूँजीपति वर्ग की नुमाइन्दगी करने वाली मोदी सरकार आज मज़दूरों-मेहनतकशों की थाली से दाल-रोटी छीनकर पूँजीपतियों की थाली में मुनाफ़ा परोसने का काम कर रही है।

अब जनता इन मुद्दों पर सवाल न कर सके, इसके लिए उन्हें धर्म की अफ़ीम दी जा रही है। उन्हें धर्म के नशे में डुबोकर उनके जीवन की बुनियादी ज़रूरतों पर एक-एक करके हमला किया जा रहा है। संघ और मोदी सरकार द्वारा लगातार हिन्दू-मुस्लिम के मुद्दों को उठाकर उन्हें असल मुद्दों से भरमाया जा रहा है। उन्हें ये बताया जा रहा है कि उनके जीवन की तमाम समस्याओं के ज़िम्मेदार दूसरे धर्म के लोग हैं। राम मन्दिर, लव जिहाद और नमाज़ रोकने सरीखे तमाम मुद्दे असल में और कुछ नहीं बल्कि जनता को आपस में बाँटने की कोशिशें हैं। ये रक्तपिपासु भेड़िये धर्म के नाम पर दंगे कराते हैं, साम्प्रदायिक ज़हर फैलाने वाले लोगों को प्रोत्साहन देते हैं, ऐसी भीड़ इकट्ठा करते हैं, जो लोगों की पहचान देखकर उनका क़त्ल कर देती है। और इन दंगों की आग में आम घरों के ही बेटे-बेटियाँ झुलसते हैं। और इन्हीं मुद्दों की आड़ में यह सरकार जन-विरोधी, मज़दूर-विरोधी नीतियाँ बनाती है, बेहिसाब महँगाई बढ़ाती है, हमारे बच्चों के लिए रोज़गार के अवसर ख़त्म करती है, और पूँजीपतियों द्वारा उनके शोषण-उत्पीड़न के द्वार खोल देती है। और हमें यह बताया जाता है कि यह सब-कुछ "देशहित" में हो रहा है।

इसलिए आज यह और भी अधिक ज़रूरी हो जाता है कि इन नक़ली मुद्दों में न उलझकर अपने असल मुद्दों को पहचाना जाये। क्योंकि जब महँगाई बढ़ती है, तो वह धर्म या जाति देखकर नहीं बढ़ती। जब बेरोज़गारी का संकट आता है, तो वह लोगों के धर्म या जाति को नहीं देखता। हाँ, पर वह उनके वर्ग को ज़रूर देखता है। अगर आप ग़रीब हैं, तो बेरोज़गारी और महँगाई आपको ही प्रभावित करेगी, न कि किसी पूँजीपति या धन्नासेठ को। इसलिए आज अपने असल मुद्दों को पहचानकर उसके लिए संघर्ष करने की ज़रूरत है। अपनी वर्ग एकजुटता बनाते हुए सरकार से अपने हक़ों को माँगने की ज़रूरत है, केवल तभी हम ख़ुद के लिए और अपनी आने वाली पीढ़ी के लिए एक बेहतर कल की कल्पना कर सकते हैं।

रसोई गैस के बढ़ते दाम : आम जनता बेहाल-परेशान!

– प्रियम्वदा

8 साल पहले जब मोदी सरकार सत्ता में आयी थी तब उनके प्रमुख नारों में से एक नारा था "बहुत हुई महँगाई की मार, अबकी बार मोदी सरकार", लेकिन इस सरकार के कार्यकाल में उपरोक्त नारे की असलियत सबके सामने नंगी हो चुकी है।

पिछले कुछ सालों में जीवन जीने के लिए ज़रूरी रोज़मर्रा की बुनियादी वस्तुओं में बेतहाशा बढ़ोत्तरी हुई है। पेट्रोल, डीज़ल से लेकर सरसों तेल और रसोई गैस तक के दामों में आये उछाल ने आम जनजीवन को बेहद प्रभावित किया है। बढ़ती महँगाई की वजह से मेहनतकश जनता जीवन जीने के लिए ज़रूरी वस्तुओं को जुटा पाने तक में अक्षम होती जा रही है।

बेतहाशा बढ़ती महँगाई में सिर्फ़ रसोई गैस के दामों में जो बढ़ोत्तरी हुई है, उससे आम मेहनतकश जनता का बजट बुरी तरह प्रभावित हुआ है। पौष्टिक खाने में कटौती से लेकर फल-सब्ज़ियों में कटौती कर लोग जीने के लिए मजबूर हैं।

कुछ आँकड़ों के ज़रिए देखें तो तस्वीर और साफ़ होती है।

घरेलू इस्तेमाल वाले सिलेण्डर के दाम बीते आठ साल में क़रीब 157 फ़ीसदी बढ़े हैं। मार्च 2014 में घरेलू रसोई गैस सिलेण्डर की क़ीमत 410 रुपये थी।

सिर्फ़ मई 2021 से मई 2022 के बीच घरेलू रसोई गैस की क़ीमतों में 76 प्रतिशत की बढ़ोत्तरी की गयी है, और अब इसकी क़ीमत क़रीब 1053 रुपये प्रति सिलेण्डर है जबकि लखनऊ, पटना, इन्दौर व अन्य कई ऐसे शहरों में रसोई गैस सिलेण्डर की क़ीमत इससे कुछ ज़्यादा ही है।

2014 से लेकर 2022 तक रसोई गैस की क़ीमत में हुई ढ़ाई गुणा की बढ़ोत्तरी से सबसे अधिक प्रभावित इस देश का मेहनतकश तबक़ा हुआ है।

जहाँ एक ओर महँगाई सारे रिकॉर्ड तोड़ रही है, वहीं दूसरी ओर आम मेहनतकश आबादी की औसत आमदनी विशेष तौर पर कोविड महामारी के बाद से या तो ठहरावग्रस्त है या फिर घटी है।

मेहनत-मज़दूरी करने वाली इस देश की लगभग तीन-चौथाई आबादी प्रति दिन सिर्फ़ 30 से 40 रुपये पर गुज़ारा करती है,जिसकी पहुँच से रसोई गैस काफ़ी दूर है। क़रीब 58 करोड़ असंगठित मज़दूरों की ऐसी आबादी है जो 10,000 रुपये या उससे कम पर गुज़ारा करती है जिनके लिए महँगाई के कारण दाल-सब्ज़ी, दवा-इलाज, शिक्षा में काफ़ी कटौती करनी पड़ रही है। मज़दूर बस्तियों में जाकर देखने पर पता चलता है कि मज़दूरों का एक बड़ा तबक़ा ऐसा है जो रसोई गैस सिलेण्डर न ख़रीद पाने की स्थिति में किलो पर रसोई गैस भरवाने को मजबूर होता है जिसकी वजह से उनके लिए यह और अधिक महँगा सौदा साबित होता है।

कोरोना काल के बाद से मेहनतकशों का एक बड़ा हिस्सा क़र्ज़ लेकर महीने का गुज़ारा चला पा रहा है और क़र्ज़ के कुएँ में धँसता ही जा रहा है।

मोदी राज में और विकराल हुई महँगाई, ग़रीबी और भूखमरी ने मज़दूर वर्ग के एक बड़े हिस्से के सामने जीवन का संकट ला खड़ा किया है।

हमें भूलना नहीं चाहिए कि यह वही सरकार है जिसने महँगाई की मार को ख़त्म करने के लिए किये गये अपने चुनावी प्रचार पर हर बार हज़ारों करोड़ रुपये ख़र्च किये हैं। आम जनता की आँखों मे धूल झोंकने के लिए किये गये इन दावों की हक़ीक़त आज हमारे सामने है। भाजपा के दोमुँहेपन के कहने ही क्या!!

कांग्रेस के कार्यकाल में इनके नेता-मंत्री सिलेण्डर के दाम बढ़ने पर सड़को पर उतर के छाती पीट-पीटकर चिल्लाते थे और अब इनकी ज़ुबान से महँगाई के ख़िलाफ़ एक शब्द भी नहीं निकलता। स्मृति ईरानी जो रसोई गैस के दाम बढ़ने पर हर बार महँगाई के ख़िलाफ़ प्रदर्शन का ढोंग करने सड़क पर पहुँच जाया करती थी आज आँखों पर पट्टी बाँधे बैठी है।

आम जनता को ये देशहित के नाम पर महँगे सिलेण्डर,महँगे पेट्रोल-डीज़ल इत्यादि ख़रीदने और भूखे तक मरने की नसीहत देते हैं। साम्प्रदायिकता के बीज डालकर जनता को आपस में बाँटने और उनके असल मुद्दों पर पर्दा डालने का इनका तरीक़ा पुराना है।

लोग महँगाई के कारणों पर सोच न सकें इसके लिए भाजपा सरकार और इनके धार्मिक कट्टरपन्थी संगठन आम जनता के बीच नक़ली मुद्दों जैसे मन्दिर-मस्जिद, हिन्दू-मुस्लिम का व्यापक जाल बुनते हैं। हमें आज इनकी असलियत को समझना होगा।

बढ़ती महँगाई का कारण मुनाफ़े की हवस पर टिकी यह पूँजीवादी व्यवस्था है और तमाम सरकारों की पूँजीपरस्त नीतियाँ हैं।

दिल्ली की आँगनवाड़ी महिला मज़दूरों के जारी ऐतिहासिक और जुझारू संघर्ष की रिपोर्ट

– प्रियम्वदा

हम 'मज़दूर बिगुल' के पन्नों पर पढ़ चुके हैं कि किस तरह 31 जनवरी से दिल्ली में आँगनवाड़ी स्त्री कामगारों की 38 दिनों तक चली हड़ताल का दमन करते हुए उपराज्यपाल ने हेस्मा लगाया था और दिल्ली सरकार के महिला एवं बाल विकास विभाग ने 884 लोगों को बदले की भावना से बर्ख़ास्त कर दिया था। हेस्मा व ग़ैर-क़ानूनी बर्ख़ास्तगी के ख़िलाफ़ महिलाकर्मियों ने अपने आन्दोलन को नये स्तर पर जारी रखा हुआ है। इस जुझारु आन्दोलन ने समूची पूँजीवादी व्यवस्था के चरित्र को बेनक़ाब किया है। विधायिका, कार्यपालिका से लेकर न्यायपालिका तक का मज़दूर-विरोधी, स्त्री-विरोधी चरित्र भी महिलाकर्मियों के इस संघर्ष के दौरान खुलकर सामने आया है।

हमने यह भी देखा है कि हड़ताल स्थगित होने के बाद आँगनवाड़ीकर्मियों ने अपने आन्दोलन की गर्मी को बनाये रखा है। पहले 'नाक में दम करो' अभियान के ज़रिए आम आदमी पार्टी और भाजपा के नेता-मंत्रियों के घोर महिला-मज़दूर विरोधी चरित्र को उजागर किया और बस्तियों-मोहल्लों में जाकर इन चुनावबाज़ पार्टियों के बहिष्कार का अभियान चलाया। दिल्ली की मेहनतकश आवाम को इनकी असलियत से परिचित कराते हुए वोटबन्दी की अपील की।

इसके बाद, आन्दोलन के अगले पड़ाव 'संघर्ष पखवाड़े' के तहत महिलाओं ने कई जीतें हासिल कीं।

महिला एवं बाल विकास विभाग और दिल्ली सरकार को नियमित मानदेय और बढ़ा हुआ मानदेय देने के लिए मजबूर किया। पिछली रिपोर्ट में यह बताया गया था कि हेस्मा जैसे दमनकारी क़ानून लगाये जाने के विरोध में स्त्री कामगारों ने कई बार उपराज्यपाल आवास व दफ़्तर का घेराव किया। अभियान के दूसरे चक्र में महिलाकर्मियों ने उपराज्यपाल को प्रतिनिधिमण्डल से मिलने के लिए बाध्य कर दिया। "महिला सशक्तिकरण" पर भाषणों की झड़ी लगानी वाली भाजपा के नुमाइन्दे उपराज्यपाल को क़रीब पाँच महीने के बाद महिलाओं से मिलने का समय मिला।

दिल्ली के उपराज्यपाल को वार्ता के लिए मजबूर करना संघर्षरत आँगनवाड़ीकर्मियों की एक महत्वपूर्ण राजनीतिक जीत है।

दिल्ली स्टेट आँगनवाड़ी वर्कर्स एण्ड हेल्पर्स यूनियन के नेतृत्व में जिस प्रतिनिधिमण्डल की मुलाक़ात उपराज्यपाल से हुई उसने बताया कि "यह वार्ता दिल्ली की आँगनवाड़ी स्त्री मज़दूरों के लम्बे संघर्ष का नतीजा है। बहिष्कार के डर से घबरायी भाजपा के "प्रतिनिधि" उपराज्यपाल को आख़िरकार वार्ता के लिए तैयार होना पड़ा। पिछले 4 महीनों से दिल्ली की सड़कों पर आन्दोलनरत महिलाकर्मियों के दबाव से ही यह वार्ता सम्भव हो सकी है। यदि पूर्व उपराज्यपाल महोदय दिल्ली की आँगनवाड़ीकर्मियों की 38 दिनों तक चली हड़ताल पर हेस्मा लगाकर एक दिन में उसका दमन कर सकते हैं तो ग़ैर-क़ानूनी व ग़ैर-जनवादी तरीक़े से बर्ख़ास्त की गयी 884 महिलाकर्मियों की पुनः बहाली के आदेश भी तत्काल जारी कर सकते हैं। उपराज्यपाल महोदय ने उक्त वार्ता में यूनियन प्रतिनिधिमण्डल को जल्द ही बुलाने का और इस मसले में जल्द ही हस्तक्षेप का आश्वासन दिया है।"

हड़ताल में सक्रियता से भागीदार रहीं आँगनवाड़ी सहायिका अनिता ने कहा कि "इस वार्ता में उपराज्यपाल के ज़रिए इनका भण्डाफोड़ कर इनके लिए वोट माँगना दूभर कर देंगी।

दिल्ली की आँगनवाड़ी स्त्री कामगारों के सामने सभी पूँजीवादी चुनावबाज़ पार्टियों का असल चेहरा बहुत पहले ही बेपर्द हो चुका है। इनके झूठे दावों और घड़ियाली आँसुओं के चक्कर में अब ये महिलाकर्मी नहीं फँसेंगी। इस आन्दोलन ने आम आदमी पार्टी, कांग्रेस और भाजपा की चुनावी राजनीति का ज़बर्दस्त तरीक़े से भण्डाफोड़ किया।

मज़ेदार बात है कि एक तरफ़ तो कांग्रेस नेता प्रियंका गांधी दिल्ली की आँगनवाड़ीकर्मियों के संघर्ष का "समर्थन" कर रही हैं और कांग्रेस के ही राज्यसभा सांसद व पार्टी प्रवक्ता अभिषेक मनु सिंघवी आँगनवाड़ीकर्मियों के ख़िलाफ़ दिल्ली सरकार की ओर से बर्ख़ास्तगी को सही ठहराने की जी-जान से कोशिश कर रहे हैं!

यही नहीं, दिल्ली सरकार के इस मसले को देखने के लिए सिंघवी महोदय कथित तौर पर एक सुनवाई के लिए 20 लाख रुपये शुल्क ले रहे हैं, जिससे दिल्ली सरकार को कोई दिक़्क़त नहीं! परन्तु आँगनवाड़ीकर्मियों के मानदेय में बढ़ोत्तरी करना इस सरकार को मंज़ूर नहीं था। ख़ैर, केजरीवाल सरकार और आम आदमी पार्टी की सच्चाई तो दिल्ली आँगनवाड़ीकर्मियों ने अपनी यूनियन के नेतृत्व में सबके सामने ला ही दी है। भाजपा, कांग्रेस, नक़ली लाल झण्डे वाली सीपीएम जैसी अन्य चुनावबाज़ पार्टियों की कलई भी खोल दी है। ज़ाहिर है, कांग्रेस की आँगनवाड़ीकर्मियों के प्रति यह सहानुभुति केवल दिखावा है। कांग्रेस ने हड़ताल के दौरान भी इस मुद्दे को केवल अपने राजनीतिक फ़ायदे (उस वक़्त कई राज्यों में विधानसभा चुनाव के मद्देनज़र) के लिए ही उठाया था और दिल्ली की आँगनवाड़ीकर्मी इसे भली-भाँति समझ भी रही थीं।

जिन राज्यों में कांग्रेस की सरकार है वहाँ आँगनवाड़ी कार्यकर्ता को 7000 रुपये व सहायिका को मात्र 4000 रुपये मानदेय मिलता है। यूनियन ने कहा कि कांग्रेस को सम्मानजनक मानदेय की माँग से इतनी ही हमदर्दी है तो उन राज्यों में स्कीम वर्करों के मानदेय बढ़ाकर 25,000 रुपये व 20,000 रुपये करने में विलम्ब क्यों कर रही है जहाँ सरकार इनकी है?!

मालूम हो कि समेकित बाल विकास परियोजना की शुरुआत ही 1975 में कांग्रेस के शासन में हुई थी। कांग्रेस ने योजनाबद्ध तरीक़े से इस परियोजना में महिलाकर्मियों को "सशक्त" करने के नाम पर उनके श्रम की लूट का उपाय निकाला था। जो देश आज भी विश्व भूख सूचकांक में 116 देशों की सूची में 110वें स्थान पर है वहाँ समेकित बाल विकास परियोजना की आवश्यकता सहज ही समझ आ जाती है। ऐसे में इस स्कीम में ज़मीनी स्तर पर कार्यरत आँगनवाड़ीकर्मियों को सरकारी कर्मचारी का दर्जा न देकर उन्हें "स्वयं सेविकाओं" की उपाधि नवाज़ कर पल्ला झाड़ लेने वाली कांग्रेस आज किस मुँह से दिल्ली सरकार पर उंगली उठा रही है?

दरअसल आँगनवाड़ीकर्मियों के ख़िलाफ़ कांग्रेस भी आम आदमी पार्टी और भाजपा के अपवित्र गठबन्धन में शामिल है।

महिलाकर्मियों के संघर्ष का इस्तेमाल अपने राजनीतिक फ़ायदे के लिए करने में भाजपा और कांग्रेस ने तो कोई कसर नहीं छोड़ी। एक तरफ़ तो दिल्ली में भाजपा का अध्यक्ष आदेश गुप्ता भी आँगनवाड़ीकर्मियों की बर्ख़ास्तगी पर घड़ियाली आँसू बहा रहा है और दिल्ली सरकार के साथ तू-नंगा, तू-नंगा का खेल खेल रहा है जबकि आँगनवाड़ी कामगारों के दमन में भाजपा भी उतनी ही संलग्न है जितनी कि दिल्ली सरकार। आदेश गुप्ता से लेकर भाजपा का हर नेता-मंत्री इस बात पर चुप्पी साध कर बैठा है कि क्यूँ 2018 में जो मामूली बढ़ोत्तरी केन्द्र सरकार द्वारा की गयी थी वो अबतक महिलाकर्मियों तक नहीं पहुँची है? क्यूँ भाजपा सरकार आँगनवाड़ी स्त्री कामगारों को पक्के कर्मचारी का दर्जा देने की माँग पर चूँ तक नहीं कर रही है?

दिल्ली में 38 दिनों तक चली आँगनवाड़ीकर्मियों की ऐतिहासिक हड़ताल से बुरी तरह घबरायी 'आप' और भाजपा ने हड़ताल को दबाने-कुचलने के लिए तो पहले ही हाथ मिला लिया था। एक ओर हड़ताल को तोड़ने के लिए हेस्मा जैसे काले क़ानून को लागू किया गया, वहीं दूसरी ओर काम पर लौट चुकीं 884 आँगनवाड़ीकर्मियों को ग़ैर-क़ानूनी तरीक़े से टर्मिनेशन लेटर सौंप दिये गये। असंवैधानिक तरीक़े से किये गये टर्मिनेशन का मसला जब दिल्ली उच्च न्यायालय में उठाया गया तो 'आप' और भाजपा के बाद कांग्रेस भी इस गुट में शामिल हो गयी।

दिल्ली स्टेट आँगनवाड़ी वर्कर्स एण्ड हेल्पर्स यूनियन के नेतृत्व में चल रहे इस आन्दोलन ने दिखा दिया कि आँगनवाड़ीकर्मी कांग्रेस, आप और भाजपा के घड़ियाली आँसूओं में नहीं फँसने वाली हैं। इनके दोमुँहेपन का पर्दाफ़ाश अपने जुझारू आन्दोलन से करती रहेंगी और अपना जायज़ हक़ मिलने तक लड़ाई जारी रखेंगी।

‘भारत छोड़ो आन्दोलन’ : एक जनविद्रोह जो भारतीय पूँजीपति वर्ग के वर्चस्व से निकलकर क्रान्तिकारी दिशा में जा सकता था

– वारुणी

‘भारत छोड़ो आन्दोलन’ जनता के क्रान्तिकारी संघर्षों की विरासत का एक एहम हिस्सा है। 1942 में ‘भारत छोड़ो आन्दोलन’ में हुए जनउभार ने ब्रिटिश साम्राज्यवादी शासन का अन्त सुनिश्चित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। इस आन्दोलन में आम मेहनतकश जनता की बड़े स्तर पर भागीदारी थी। क़रीब 40 प्रतिशत मज़दूरों और किसानों ने इस आन्दोलन में हिस्सेदारी की और यह आन्दोलन सिर्फ़ शहरों तक ही सीमित नहीं रहा बल्कि गाँव-गाँव में फैल गया था। ‘भारत छोड़ो आन्दोलन’ का अंग्रेज़ी हुकूमत पर क्या प्रभाव पड़ा इसको हम तभी के वायसराय लिनलिथगो के इस वक्तव्य से जान सकते हैं जो उन्होंने तभी के प्रधानमंत्री चर्चिल को लिखे पत्र में कहा था कि “यह 1857 के बाद का सबसे गम्भीर विद्रोह है जिसकी गम्भीरता और विस्तार को हम अब तक सैन्य सुरक्षा की दृष्टि से छुपाये हुए हैं।” इन्हीं शब्दों से हम आन्दोलन की व्यापकता का और जुझारूपन का आकलन लगा सकते हैं। पहले के अन्य आन्दोलनों की अपेक्षा इस आन्दोलन का विस्तार ज़्यादा व्यापक था और यह भारतीय पूँजीपति वर्ग की प्रातिनिधिक पार्टी कांग्रेस के नेतृत्व की नीतियों का भी अतिक्रमण कर रहा था। इस रूप में इस आन्दोलन में एक आमूलचूल परिवर्तन की सम्भावना-सम्पन्नता भी थी। कांग्रेस ने हमेशा ही जन आन्दोलनों को विनियमित करने का काम किया है ताकि वे पूँजीपति वर्ग के हितों के दायरे से बाहर ना जा सकें। ‘भारत छोड़ो आन्दोलन’ में भी कांग्रेस ने यही किया। हालाँकि ‘भारत छोड़ो आन्दोलन’ में क्रान्तिकारी जन संघर्षो के बहाव को थामना कांग्रेस के लिए काफ़ी मुश्किल था लेकिन वह इसे अपने नेतृत्व के तहत सहयोजित करने में कामयाब रही। वह कामयाब इसलिए रही क्योंकि आज़ादी के आन्दोलन का नेतृत्व करने की क्षमता रखने वाला एकमात्र दूसरे वर्ग यानी मज़दूर वर्ग की आत्मगत ताक़तें, यानी उसकी नेतृत्वकारी ताक़तें, कमज़ोर थीं। भारत की कम्युनिस्ट पार्टी ने अपनी विचारधारात्मक रूप से ग़लत समझदारी के कारण ‘भारत छोड़ो आन्दोलन’ में शिरकत ना करने का फ़ैसला किया था क्योंकि उस समय दुनिया के पैमाने पर फ़ासीवाद और नात्सीवाद के विरुद्ध जारी युद्ध में ब्रिटेन सोवियत संघ का औपचारिक तौर पर मित्र देश था। लेकिन यह सच्चाई सभी देख रहे थे कि हिटलर के नात्सी जर्मनी को हराने में सोवियत संघ का कोई भी साम्राज्यवादी ताक़त साथ नहीं दे रही थी। लेकिन अपने यांत्रिक चिन्तन और अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के नेतृत्व का आँख मूँदकर अनुसरण करने और अपने देश की ठोस परिस्थितियों का मूल्यांकन करने की असफलता के कारण भारत की कम्युनिस्ट पार्टी ने क्रान्तिकारी चरित्र रखते हुए भी ‘भारत छोड़ो आन्दोलन’ में हिस्सेदारी न करने की भूल की। यह एक ऐतिहासिक भूल थी जिसका ख़ामियाज़ा पूरे कम्युनिस्ट आन्दोलन को आज तक भुगतना पड़ रहा है।

कांग्रेस ने भले ही इस जन आन्दोलन को पूँजीवादी फ़्रेमवर्क में सहयोजित कर लिया लेकिन ‘भारत छोड़ो आन्दोलन’ आज भी हमारी क्रान्तिकारी विरासत का हिस्सा है जिसे हमें भूलना नहीं चाहिए। सत्ता में बैठे पूँजीपति वर्ग के नुमाइन्दों ने एक सोची समझी रणनीति के तहत जनता के समक्ष आज़ादी के पूरे आन्दोलन के इतिहास को अपने वर्गीय नज़रिए से प्रस्तुत किया है और उसे ही जन मानस में बैठाने का प्रयास किया है लेकिन हमें अपनी क्रान्तिकारी विरासत को धूमिल नहीं पड़ने देना चाहिए। इसलिए ‘भारत छोड़ो आन्दोलन’ के बारे में एक संक्षिप्त चर्चा यहाँ की जायेगी ताकि हम यह समझ सकें कि किस प्रकार कांग्रेस पार्टी एक तरफ़ क्रान्तिकारी जन संघर्षों से डरती थी यह सोचकर कि कहीं वे पूँजीपति वर्ग के हितों की सीमाओं का अतिक्रमण ना करें (इसके लिए कई बार उसने मज़दूर-किसान संघर्षों के ब्रिटिश हुकूमत द्वारा दमन का मौन या मुखर समर्थन भी किया है!) और दूसरी तरफ़ वह इन्हीं जन संघर्षों के बल पर ब्रिटिश साम्राज्यवादियों से सहूलियतें और छूटें भी हासिल करती रही और अन्ततः इसी के बूते 1947 में ब्रिटिश साम्राज्यवादी ताक़तों के साथ वह समझौता कर पायी और सत्ता की बागडोर अपने हाथों में ले सकी।

भारत का बुर्जुआ वर्ग वाणिज्यिक पूँजी से शुरुआत करते हुए बीसवीं सदी के पहले दशक तक अपनी औद्योगिक पूँजी को काफ़ी हद तक विस्तार दे चुका था और दो विश्वयुद्धों के दौरान तो उसने अपनी औद्योगिक पूँजी को और विस्तारित किया। इसी विस्तार के अनुसार पूँजीपति वर्ग ने अपनी बढ़ती राजनीतिक महत्वाकांक्षा के लिए समझौता-दबाव-समझौता की रणनीति अपनाते हुए डोमिनियन स्टेटस से लेकर पूर्ण स्वराज, असहयोग आन्दोलन और नमक सत्याग्रह से लेकर ‘भारत छोड़ो आन्दोलन’ तक की यात्रा तय की। ‘भारत छोड़ो आन्दोलन’ एक ऐसे समय शुरू किया गया जब रूस द्वारा हिटलर की सेना को पीछे धकेलने की शुरुआत हुई और इसी के साथ बुर्जुआ वर्ग के कुशलतम राजनीतिक प्रतिनिधि और रणनीति-निर्माता गाँधी समझ चुके थे कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद पर जनान्दोलन का दबाव बनाकर अधिकतम सम्भव हासिल करने का अनुकूलतम समय आ चुका है।

युद्ध की शुरुआत से पहले ब्रिटेन स्पष्ट रूप से आक्रान्ता देशों की पीठ थपथपा रहा था और जर्मनी को सोवियत संघ के ख़िलाफ़ उकसा रहा था। एक ऐसे वक़्त में ब्रिटिश विरोधी पक्ष और फ़ासीवाद विरोधी पक्ष लेने में कोई अन्तर्विरोध मौजूद नहीं था। कांग्रेस ने भी फ़ासीवादी आक्रमण की भर्त्सना की लेकिन उसके बावजूद भी कांग्रेस 1938 तक मंत्रिमण्डलों में शामिल थी। कांग्रेस के इस शासनकाल में किसानों-मज़दूरों का दमन किया जा रहा था और आम जन का कांग्रेस से कटाव बढ़ रहा था। आगे चलकर सितम्बर 1939 में जब युद्ध की शुरुआत हुई तब मजबूरन कांग्रेस मंत्रिमण्डलों को त्यागपत्र देना पड़ा वरना जिस प्रकार वायसराय ने प्रान्तीय मंत्रिमण्डलों से बिना कोई विमर्श किये भारत को जर्मनी के विरुद्ध ब्रिटेन के युद्ध में घसीट लिया था, ऐसे में युद्ध विरोधी कांग्रेसी प्रदर्शनकारी व आम जन के ख़िलाफ़ कांग्रेस मंत्रिमण्डलों को आपातकालीन शक्तियों का प्रयोग करना पड़ता! शुरू में युद्ध की ऐसी परिस्थिति थी कि ब्रिटेन को कांग्रेस के सहयोग की ज़रूरत नहीं पड़ती और इसलिए ही वायसराय लिनलिथगो ने कांग्रेस द्वारा प्रस्तावित न्यूनतम शर्तों पर पूर्ण सहयोग के प्रस्ताव को ठुकरा दिया था। कांग्रेस ने युद्ध के पश्चात् संविधान सभा बुलाने का वादा और केन्द्र में एक उत्तरदायी सरकार जैसी किसी चीज़ के गठन का प्रस्ताव रखा था लेकिन लिनलिथगो डोमिनियन स्टेटस सम्बन्धी पुरानी पेशकश तक ही सीमित रहा। ज्ञात हो युद्ध की घोषणा के दिन ही नागरिक स्वाधीनताओं को सीमित करने वाला भारत रक्षा अध्यादेश लागू कर दिया गया था। इस पूरे दौरान कांग्रेस समझौते का प्रयास करती रही। नेहरू का कहना यह था कि बिना शर्त ब्रिटेन का युद्ध में समर्थन करने के लिए जनता तैयार नहीं होगी। तात्पर्य यह है कि कांग्रेस अन्त तक बातचीत जारी रखे हुए थी ताकि किसी तरह समझौता हो जाये।

युद्ध जैसे आगे बढ़ा अगस्त 1940 में ब्रिटेन को यह ज़रूरत महसूस हुई कि भारत का इसमें समर्थन चाहिए होगा और ठीक इसलिए ही लिनलिथगो कुछ रियायतें देने के लिए मान गये थे लेकिन चर्चिल ने उनके प्रस्तावों में अडंगा डाल दिया। नतीजतन लिनलिथगो का ‘अगस्त प्रस्ताव’ भी कुछ ख़ास तब्दीली नहीं लेकर आया, इसमें सिर्फ़ भविष्य में डोमिनियन स्टेटस और युद्ध पश्चात् संविधान बनाने के लिए एक निकाय के गठन की बात की गयी थी लेकिन इसके लिए भी ब्रिटिश पार्लियामेण्ट की अनुमति आवश्यक थी। गाँधी बार-बार इसी प्रयास में रहे कि किसी तरह समझौता हो जाये। कांग्रेस के भीतर के “वाम” धड़े और आम जन के दबाव को देखते हुए गाँधी ने ‘अगस्त प्रस्ताव’ से निराश होकर आन्दोलन करने की अनुमति तो दे दी लेकिन यह आन्दोलन जानबूझकर सीमित और प्रभावहीन रखा गया। मार्च 1940 में सविनय अवज्ञा आन्दोलन छेड़ने की बात की गयी थी लेकिन इस आन्दोलन में सिर्फ़ युद्ध विरोधी बातें कहने के अधिकार को एकमात्र मुद्दा बनाया गया। जून 1941 में आन्दोलन का शिखर पहुँचा जिसमें क़रीब 20,000 लोग जेल जा चुके थे लेकिन उसके बाद आन्दोलन बिखरने लगा। यह सबसे कमज़ोर और प्रभावहीन आन्दोलन जानबूझकर बनाये रखा गया क्योंकि गाँधी को बख़ूबी पता था कि यदि आन्दोलन को और आम जन के ग़ुस्से को खुली छूट दे दी जाये तो हो सकता है कि आन्दोलन कांग्रेस के नेतृत्व से बाहर निकल जाये। तब तक भारत की कम्युनिस्ट पार्टी भी राष्ट्रीय आन्दोलन को प्रधान अन्तर्विरोध मान रही थी जो कि नाज़ी-सोवियत सन्धि के पश्चात् कोमिण्टर्न की नीति थी। कम्युनिस्ट एक ताक़त के तौर पर आज़ादी के आदोलन में सक्रिय थे और कम्युनिस्ट पार्टी देश में तीसरी सबसे बड़ी पार्टी थी। जनवरी 1941 में बिड़ला के साथ बातचीत में गाँधी ने कहा था कि वे आन्दोलन से ज़्यादा परेशानी नहीं उत्पन्न करना चाहते और साथ ही उन्होंने युवाओं की मानसिकता पर चिन्ता व्यक्त करते हुए कहा था कि “...दुर्भाग्य से हमारे युवा कम्युनिज़्म की ओर आकर्षित होते हैं” (ठाकुरदास पेपर्स, फ़ा.न. 177)। इससे यह साफ़ अन्दाज़ा लगाया जा सकता है कि किस प्रकार गाँधी बुर्जुआ वर्ग के एक पैरोकार के रूप में हर दावपेच सही तरीक़े से इस्तेमाल कर रहे थे।

युद्ध के नये चरण में परिस्थितियाँ बिल्कुल बदल गयीं। विश्वयुद्ध की दो घटनाओं ने भारत की स्थिति को अचानक से बदल दिया और परिस्थिति अनुसार ब्रिटिश हुक्मरानों की नीतियाँ भी बदलीं और कांग्रेस व कम्युनिस्ट पार्टी की नीतियों में भी परिवर्तन आया। पहली घटना थी 1941 के अन्तिम महीनों में सोवियत रूस पर हिटलर की सेना का आक्रमण और दूसरी घटना दक्षिण पूर्वी एशिया में जापान का आक्रमण जिसने चार महीनों में ही ब्रिटिश साम्राज्यवादी ताक़तों को मलाया, बर्मा और सिंगापुर से खदेड़ दिया जिससे उन्हें अपने साम्राज्य के नष्ट होने का ख़तरा महसूस होने लगा था। अन्ततः 1942 के मार्च में जब अण्डमान द्वीप समूह पर क़ब्ज़ा कर लिया गया तब ब्रिटिश साम्राज्यवादियों को यह एहसास हुआ कि भारतीय जनता को अपने पक्ष में करने के लिए कुछ ज़रूरी क़दम उठाना पड़ेगा और मार्च-अप्रैल में क्रिप्स मिशन को भेजा गया। भारतीय नेताओं से समझौते की बात करने क्रिप्स भारत आये लेकिन अन्तिम क्षण में लिनलिथगो चर्चिल के साथ मिलकर समझौते में बाधा डाल देते हैं। क्रिप्स को सारी बातचीत को पुनः मंत्रिमण्डल योजना पर लाने को कहा जाता है। इस पूरी बातचीत में नेहरू मौजूद रहते हैं और अन्त तक वे पूरी कोशिश करते हैं कि किसी तरह से समझौता हो जाये परन्तु राष्ट्रीय सरकार बनाने व संविधान सभा बुलाने के अपने पुराने वायदे को नहीं निभाते हुए क्रिप्स मिशन असफल होता है।

अगस्त 1942 में पूरे देश की आम जनता की मनःस्थिति विद्रोही मोड़ ले रही थी। एक तरफ़ मलाया, बर्मा व सिंगापुर से पीछे हटने के दौरान अंग्रेज़ों ने यातायात के सभी साधनों को अपने अधिकार में कर लिया और वहाँ मौजूद भारतीय प्रवासी मज़दूरों को उनके हाल पर छोड़ दिया। बाद में इन प्रवासियों को कई कठिनाईयों से जूझते हुए वापस लौटना पड़ा और इनके बीच अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ एक रोष उत्पन्न हो रहा था। दक्षिण पूर्वी एशिया में भेजे जाने वाले अधिकतर प्रवासी मज़दूर संयुक्त प्रान्त और उत्तरी बिहार से आते थे, इसलिए ही बिहार में ‘अगस्त का विद्रोह’ सबसे उग्र व विस्तृत था। विदेशों से और ख़ास कर बर्मा के मोर्चे से घायल लौटने वाले भारतीय सिपाहियों को देखकर आम जन में उस युद्ध के प्रति रोष बढ़ता गया। नस्ल भेद आधारित दुर्व्यवहार बढ़ते जा रहे थे, इसके अलावा खाद्यान मूल्यों में भी वृद्धि हो रही थी। विशेष रूप से चावल और नमक की कमी हो गयी थी। खाद्यान्नों की क़ीमतों के बढ़ने के कारण और देश में मित्र देशों की सेनाओं के विशाल जमाव को देखते हुए आम जन में यह भाव बैठ गया था कि देश के खाद्यान भण्डार को सेना ख़त्म कर रही है। हिटलर के सोवियत रूस पर आक्रमण के बाद भारत की कम्युनिस्ट पार्टी ने जनवरी 1942 में ही फ़ासीवाद विरोधी “जनयुद्ध” को समर्थन देने का फ़ैसला कर लिया था। हालाँकि वे भी राष्ट्रीय सरकार के गठन की बात कर रहे थे लेकिन इस बात को युद्ध में ब्रिटेन के समर्थन की किसी शर्त के बतौर नहीं रखा था। मतलब साफ़ था कि वे बिना शर्त ब्रिटेन का समर्थन करते और राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन को तेज़ करने के पक्ष में उस दौरान नहीं होते। भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के अनुसार मित्र राष्ट्रों में ब्रिटेन सोवियत समाजवादी देश का मित्र था और पार्टी फ़ासीवाद विरोधी मोर्चे को कमज़ोर नहीं करना चाहती थी। नेतृत्व की ग़लत विचारधारात्मक समझ के कारण ‘भारत छोड़ो आन्दोलन’ में कम्युनिस्ट पार्टी ने भागीदारी नहीं करने का फ़ैसला किया जो कि एक ऐतिहासिक भूल थी। इन ग़लतियों ने भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन को गम्भीर धक्का पहुँचाया और ज़मीनी स्तर पर मज़दूरों-किसानों के जुझारू संघर्षों और उनमें अपनी गहरी साख के बावजूद राष्ट्रीय आन्दोलन में सर्वहारा राजनीतिक लाइन स्थापित करने व नेतृत्व कांग्रेस के हाथों से छीनने के

(पेज 10 पर जारी)

क्या इससे आम मेहनतकश आदिवासियों की जीवन स्थिति में कोई बदलाव आयेगा?

(पेज 1 से आगे)

सालों में भाजपा का ओडिशा की चुनावी रणभूमि में तेज़ी से विस्तार हुआ है। 2019 लोकसभा चुनावों में इसने 21 में से 8 सीट अपने नाम कर लीं। 2017 के पंचायत चुनावों में भी भाजपा दूसरी सबसे बड़ी पार्टी के तौर पर उभरी। द्रौपदी मुर्मू को राष्ट्रपति बनाकर ओड़िशा में भाजपा अपनी लोकप्रियता का विस्तार करने के प्रयास में है।

जहाँ एक ओर भाजपा सरकार और गोदी मीडिया अपनी पीठ थपथपाते नहीं रुक रहे हैं वहीं दूसरी ओर तथाकथित प्रगतिशील दायरों के अस्मितावादी बुद्धिजीवी भी इसे एक स्वागतयोग्य क़दम बताते हुए द्रौपदी मुर्मू को मुबारकबाद और भाजपा को इस मेहरबानी के लिए धन्यवाद देते नहीं थक रहे हैं। अस्मितावादी राजनीति की दलदल में गर्दन तक धँसे बुद्धिजीवी और कार्यकर्ता इसे आदिवासी समाज के लिए एक क्रान्ति तक की संज्ञा दे रहे हैं। ऐसा दिखाया जा रहा है जैसे द्रौपदी मुर्मू के राष्ट्रपति बनने के बाद आदिवासियों के साथ सदियों से हो रहा शोषण, उत्पीड़न और भेदभाव अब ख़त्म हो जायेगा। द्रौपदी मुर्मू 2000 से 2009 तक विधायक रहीं और 2000 से 2004 के बीच ओड़िशा की बीजेडी-भाजपा गठबन्धन सरकार में अलग-अलग विभागों में मंत्री भी रही हैं। उसके बाद 2015 से 2021 तक मुर्मू झारखण्ड की राज्यपाल रहीं। वैसे तो अस्मितावादियों के आकाश कुसुम की अभिलाषाओं पर पानी फेरने के लिए बस यह एक छोटा तथ्य काफ़ी है कि इतने लम्बे समय तक राजनीति के उच्च पायदानों में सक्रिय रहने के बावजूद उनके अपने पैतृक गाँव तक बिजली महज़ एक महीने पहले ही पहुँची है, और वह भी उनको राष्ट्रपति उम्मीदवार घोषित किये जाने के बाद। ख़ैर, अभी इस विषय पर एक सरसरी नज़र डालते हैं कि अपने अब तक के राजनीतिक सफ़र के दौरान द्रौपदी मुर्मू ने आदिवासियों पर हो रहे शोषण या उत्पीड़न के सवाल पर क्या रुख़ अपनाया। इससे अस्मितावादियों के ख़याली पुलाव में कितना वज़न है उसका एक पैमाना मिल जायेगा।

2 जनवरी 2006 ओड़िशा के आदिवासियों के लिए एक काला दिन है। इस दिन जाजपुर ज़िले के कलिंग नगर इलाक़े में टाटा स्टील के ज़बरन भूमि अधिग्रहण और नाकाफ़ी मुआवज़े के ख़िलाफ़ विरोध प्रदर्शन कर रहे 15 आदिवासियों को पुलिस ने गोली मारकर मौत के घाट उतार दिया। कई मृत शरीरों को बुरी तरह से विकृत करके उनके परिजनों को सौंपा गया। मरने वालों में दो आदिवासी महिलाएँ भी थीं। पूरे देश में कम्पनी-सरकार की मिलीभगत से अंजाम दी गयी इस बर्बरता के ख़िलाफ़ रोष था। ओड़िशा में इस समय सत्ता में बीजेडी-भाजपा गठबन्धन सरकार थी और द्रौपदी मुर्मू भाजपा की टिकट पर विधायक थीं। आदिवासियों के इस नरसंहार पर द्रौपदी मुर्मू ने एक लफ़्ज़ तक नहीं कहा और एक अवसरवादी चुप्पी साधे रहीं।

2003 में बीजेडी भाजपा की गठबन्धन सरकार ने वेदान्ता अलुमिना के साथ नियमगिरि पहाड़ों से बॉक्साइट के खनन और पास ही एक रिफ़ाइनरी बनाने के लिए समझौता ज्ञापन पर अपनी मोहर लगा दी। आनन-फ़ानन में इस परियोजना को पर्यावरण मंज़ूरी भी दे दी गयी और उस इलाक़े में ज़बरन भूमि अधिग्रहण और जंगल की तबाही शुरू हो गयी। इसके साथ ही डोंगरिया कोंध समुदाय का वेदान्ता विरोधी आन्दोलन शुरू हो गया जो आज तक जारी है। जब यह पूरा प्रकरण शुरू हुआ तब द्रौपदी मुर्मू राज्य कैबिनेट मंत्री थीं। जब यह आन्दोलन अपने शिखर पर था और राज्य की तरफ़ से दमन का पाटा चलना भी शुरू हो चुका था तब भी मुर्मू विधायक थीं। द्रौपदी मुर्मू ने राज्य के एक विशिष्टतः असुरक्षित जनजातीय समूह पर हो रहे इस दमन के ख़िलाफ़ क्या किया? कुछ नहीं। हर बार की तरह इस बार भी वो मूक दर्शक बनी रहीं। वह देखती रहीं किस तरह पूँजीपतियों के हितों को साधने के लिए सरकार सैकड़ों कोंध नौजवानों पर ज़ुल्म ढा रही थी। आज तक इनमें से कई नौजवान यूएपीए और देशद्रोह के फ़र्ज़ी केसों के तहत सलाख़ों के पीछे हैं।

2008 का कन्धमाल दंगा आज़ाद भारत में ईसाई अल्पसंख्यकों पर हुए सबसे हिंसक दंगों में से एक है। भाजपा, आरएसएस, बजरंग दल और विश्व हिन्दू परिषद के द्वारा प्रायोजित इन दंगों में 600 गाँव उजाड़े गये, 60000 से ज़्यादा लोग बेघर हो गये और सरकारी सूत्रों के अनुसार ईसाई समुदाय के 39 लोग मारे गये जिनमें से ज़्यादातर दलित थे। इन दंगों के ख़िलाफ़ कुछ बोलना तो दूर द्रौपदी मुर्मू इन दंगो में भाजपा के आरोपियों के बचाव का प्रयास कर रही थीं।

2015 में द्रौपदी मुर्मू झारखण्ड की राज्यपाल बनीं। 2016 में रघुवर दास की भाजपा सरकार ने क़ानूनी तौर पर आदिवासियों से ज़मीन छीनकर पूँजीपतियों को सौंपने के लिए छोटा नागपुर काश्तकारी अधिनियम और सन्थाल परगना काश्तकारी अधिनियम में अहम संशोधन करने के प्रयास किये। सरकार की इन नीतियों के ख़िलाफ़ भी द्रौपदी मुर्मू ने मुँह नहीं खोला। अन्ततः जनता के जुझारू प्रतिरोध ने भाजपा सरकार को क़दम पीछे हटाने पर मजबूर किया। लेकिन कूपमण्डूक अस्मितावादी और आदिवासी बुद्धिजीवी इस बिल के रद्द होने का श्रेय भी द्रौपदी मुर्मू को दे रहे हैं। छोटा नागपुर काश्तकारी अधिनियम और सन्थाल परगना काश्तकारी अधिनियम से छेड़छाड़ के ख़िलाफ़ जो ग़ुस्सा झारखण्ड के आदिवासियों में था उसके फलस्वरूप झारखण्ड में स्वतः स्फूर्त तरीक़े से पथलगाड़ी आन्दोलन शुरू हुआ। इस आन्दोलन को कुचलने के लिए भाजपा सरकार ने तुरन्त ही एक व्यापक दमन चक्र चलाया और हज़ारों आदिवासियों को गिरफ़्तार कर लिया और उनमें से सैंकड़ों को नक्सली बताते हुए उन पर यूएपीए और देशद्रोह के फ़र्ज़ी मुक़द्दमे चलाये। उनमें से ज़्यादातर आज भी जेल में ही हैं। क्या द्रौपदी मुर्मू ने आदिवासियों पर हो रहे इस अत्याचार के ख़िलाफ़ कुछ किया या कुछ बोला? नहीं। उन्होंने हमेशा की तरह इस बार भी सुनहरी चुप्पी बनाये रखी। जब गोदी मीडिया एक आदिवासी महिला के राष्ट्रपति बनने पर जश्न मना रहा था और उस जश्न में अस्मितावादी बुद्धिजीवी भी तमक (पारम्परिक सन्थाली बाद्य यंत्र) पीटने में मग्न थे, उसी समय सिलगर, हासदेओ, नेतरहाट की हज़ारों आदिवासी महिलाएँ वहाँ चल रहे ज़बरन विस्थापन और सत्ता के दमन के ख़िलाफ़ सड़कों पर थीं। उसी समय देश की विभिन्न जेलों में हज़ारों आदिवासी नौजवान झूठे आरोपों के तहत और बिना किसी जाँच या सुनवाई के सड़ रहे थे। पूरे ब्राह्मणवादी कर्म-काण्ड और राजकीय तामझाम से द्रौपदी मुर्मू का राष्ट्रपति भवन में गृह प्रवेश तो हो गया, मगर क्या उन्होंने अपने शपथ ग्रहण समारोह में आदिवासियों पर हो रहे अत्याचार पर कुछ बोला? नहीं। न ही वह इस पर कभी कुछ बोलेंगी।

कुछ लोग अस्मितावादियों के खोखले आशावाद का बस इस तर्क से विरोध कर रहे हैं कि राष्ट्रपति तो महज़ एक कठपुतली होता है, उसके पास कोई वास्तविक शक्ति होती नहीं है, वह तो बस एक 'रबर स्टैम्प' है। सवाल यहाँ यह नहीं है कि पहचान की राजनीति राज्यसत्ता के किस पायदान पर खेली जा रही है और यह कौन-सी पार्टी खेल रही है। बुनियादी सवाल पहचान की राजनीति पर ही है, चाहे वो किसी भी पद के लिए हो और किसी भी पार्टी द्वारा हो। दमित-उत्पीड़ित अस्मिताओं के कुछ प्रतिनिधि अगर चुनकर विधायक, सांसद, कैबिनेट मंत्री या प्रधानमंत्री भी बन जाते हैं तब भी उन दमित समुदायों का उद्धार नहीं होने वाला है। जिस मयूरभंज ज़िले से ख़ुद द्रौपदी मुर्मू आती हैं, उस ज़िले में आज़ादी के बाद कुल 13 सांसदों में से 12 सांसद आदिवासी समुदायों से हैं और अलग-अलग बुर्जुआ पार्टियों का प्रतिनिधित्व किया है। लेकिन मयूरभंज की सामाजिक आर्थिक स्थिति पर एक नज़र डालें तो हम पाते हैं कि शिक्षा, स्वास्थ्य आदि जैसे सभी ज़रूरी पैमानों पर यह ओड़िशा के सबसे पिछड़े ज़िलों में आता है। मयूरभंज की साक्षरता दर राज्य और राष्ट्रीय दर से कहीं नीचे है और यहाँ स्कूल की पढ़ाई आधे में छोड़ना एक बड़ी समस्या है। पढ़ाई बीच में छोड़ने वाले बच्चों में 74 प्रतिशत बच्चे आदिवासी समुदाय से आते हैं। इस ज़िले के ठाकुरमुण्डा ब्लॉक में महिला साक्षरता दर 25 प्रतिशत से भी कम है। मयूरभंज के 50 प्रतिशत बच्चे कुपोषण का शिकार हैं और अगर आदिवासी बच्चों की बात की जाये तो यह दर बढ़कर 65 प्रतिशत हो जाती है। पिछले 70 सालों से आदिवासी सांसद और विधायक चुनने के बाद भी आदिवासियों के बच्चों के लिए आज तक अच्छी शिक्षा और स्वास्थ्य व्यवस्था क्यों नहीं है?

अस्तित्व में आने के बाद से ही झारखण्ड की स्थिति भी कुछ ऐसी ही है। आदिवासियों के लिए एक स्वतंत्र राज्य के तौर पर 2000 में बिहार से अलग होने के बाद झारखण्ड के छः मुख्यमंत्रियों में से पांच आदिवासी और एक दलित रहे हैं। लेकिन आज भी झारखण्ड में आदिवासियों और दलितों की हालत वैसी ही बनी हुई है जैसी 25 साल पहले थी। झारखण्ड बनने के महज़ तीन महीने बाद ही राज्य के प्रथम मुख्यमंत्री बाबू लाल मराण्डी (जो सन्थाल समुदाय से आते हैं) के समय 8 आदिवासियों को पुलिस की गोली से भून डाला गया। ये आदिवासी कोएल कारो जलविद्युत प्रकल्प से होने वाले विस्थापन के ख़िलाफ़ आन्दोलन कर रहे थे। झारखण्ड की सभी सरकारों ने उसके बाद राज्य की समस्त मेहनतकश जनता के बुनियादी अधिकारों को बर्बरता से कुचलते हुए राज्य के संसाधनों को तेज़ी से देशी-विदेशी पूँजी के हाथों सौंपने का काम किया है।

द्रौपदी मुर्मू के राष्ट्रपति बनने के बाद मेहनतकश आदिवासियों की स्थिति भी उतनी ही बदलेगी जितनी रामनाथ कोविन्द के राष्ट्रपति बनने के बाद मेहनतकश दलितों की बदली थी या एपीजे अब्दुल कलाम के राष्ट्रपति बनने के बाद मेहनतकश मुसलमानों की बदली थी। 2017 से 2022 के बीच जब रामनाथ कोविन्द राष्ट्रपति थे उन्हीं पाँच सालों के दौरान 347 दलितों ने गटर और सेप्टिक टैंकों में दम तोड़ दिया। यह तो महज़ सरकारी आँकड़ा है और मौतों के असली आँकड़े इससे कई गुना ज़्यादा ही होंगे। जब कोविन्द राष्ट्रपति थे उस दौरान न ही मेहनतकश दलितों का जातिगत उत्पीड़न कहीं कम हुआ न ही उन्हें ग़रीबी और भुखमरी से कोई निजात मिली। उल्टे राष्ट्रीय अपराध रिकॉर्ड ब्यूरो के अनुसार इस अवधि में दलितों के ख़िलाफ़ हो रहे अपराध में बढ़ोत्तरी हुई।

इतना तो तय है कि राज्यसत्ता में भागीदारी से दमित-उत्पीड़ित समुदायों की आम मेहनतकश जनता की जीवन स्थिति में कोई बदलाव नहीं आने वाला है। यहाँ हमें इस बात पर विशेष ध्यान देना होगा कि बुर्जुआ सत्ता सिर्फ़ और सिर्फ़ पूँजीपति वर्ग के हितों की ही सेवा करती है। दमित-उत्पीड़ित समुदायों के कुछ व्यक्तियों या उनके कुछ उच्चवर्गीय हिस्सों की राज्यसत्ता में हिस्सेदारी से राज्यसत्ता का चरित्र नहीं बदलता है। वह तब भी पूँजीपति वर्ग की ही सेवा करती है। होता महज़ यह है कि दमित-उत्पीड़ित समुदायों के प्रतिनिधि इस बुर्जुआ राज्य मशीनरी का अंग बन जाते हैं और राज्यसत्ता के आधार और अवलम्बों का विस्तार करने में मदद करते हैं।

आदिवासी समुदाय के शोषण और उत्पीड़न का सवाल सीधे जाकर इस पूँजीवादी व्यवस्था और इसकी राज्यसत्ता से जुड़ता है। बहुआयामी ग़रीबी (बहुआयामी ग़रीबी न सिर्फ़ व्यक्तिगत आय बल्कि जीवन स्थिति, शिक्षा, स्वास्थ्य, पोषण आदि को भी ध्यान में रखते हुए निर्धारित होती है) पर संयुक्त राष्ट्र की रिपोर्ट के अनुसार भारत की 27 प्रतिशत आबादी बहुआयामी ग़रीबी का शिकार है। लेकिन आदिवासियों के मामले में यह आँकड़ा 50 प्रतिशत से ज़्यादा है। आदिवासियों की बहुसंख्या आज गाँव या शहरों में उजरती श्रम करके ही अपना पेट पालती है। यहाँ उसका शोषण गाँव के धनी किसान और कुलक करते हैं या शहरों में छोटे-बड़े पूँजीपति। इसलिए अकेले आदिवासी समुदाय सिर्फ़ अपने जल-जंगल-ज़मीन की लड़ाई लड़ते हुए अपने शोषण और उत्पीड़न को ख़त्म नहीं कर सकते हैं। इसके लिए मेहनतकश आदिवासी जनता को आम मज़दूर मेहनतकश जनता के साथ वर्गीय एकता बनाते हुए अपने संघर्षों को व्यापक पूँजीवाद विरोधी जन आन्दोलन के साथ जोड़ना पड़ेगा।

रही बात द्रौपदी मुर्मू की तो किसी भी सामाजिक पृष्ठभूमि से आने वाला कोई भी व्यक्ति अगर एक फ़ासीवादी पार्टी का वरिष्ठ नेता रहा हो और अपनी फ़ासीवादी पार्टी के कुकृत्यों पर कभी सवाल तक न उठाया हो, तो वह व्यक्ति भी फ़ासीवादियों के मानवद्रोही अपराधों में समान रूप से भागीदार है। इससे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता है कि वह व्यक्ति ख़ुद उन अपराधों में प्रत्यक्ष रूप से लिप्त रहा है या नहीं। हर फ़ासीवादी के कपड़े आदिवासियों, दलितों, मुसलमानों और आम मेहनतकश जनता के ख़ून से लथपथ होते हैं, चाहे वह किसी भी समुदाय से आता या आती हो। किसी के राष्ट्रपति बनने के बाद भी ख़ून के ये दाग़ नहीं धुलने वाले हैं। अस्मितावाद का काला चश्मा पहने राजनीतिक मोतियाबिन्द के शिकार जो बुद्धिजीवी किसी फ़ासिस्ट से यह आस लगाये बैठे हैं कि वह किसी दमित समुदाय से आने के कारण उस दमित समुदाय का उद्धार कर देगा या देगी, आने वाले समय में वर्ग संघर्ष की भट्टी में उनका सही इलाज जनता ही कर देगी।

एक बार फिर विकल्पहीनता की स्थिति से गुज़रती श्रीलंका की जनता

– लता

गोटाबाया राजपक्षे को राष्ट्रपति पद से हटाने के बाद भी श्रीलंका की जनता सड़कों पर है। श्रीलंका की संसद ने रानिल विक्रमसिंघे को राष्ट्रपति चुना है लेकिन जनआन्दोलन अभी भी जारी है। लोगों का कहना है कि रानिल विक्रमसिंघे जनता द्वारा चुना गया प्रतिनिधि नहीं है इसलिए लंका की जनता उसे राष्ट्रपति की तरह नहीं स्वीकार करेगी। विक्रमसिंघे के चुने जाने से भी जनता को किसी भी तरह के परिवर्तन की कोई उम्मीद नहीं है। यह सही भी है क्योंकि रानिल विक्रमसिंघे उसी सम्भ्रान्त शासक परिवार का हिस्सा है जो देश के संसाधनों और मज़दूर-मेहनतकश जनता की मेहनत को लूटने वाली देशी-विदेशी पूँजी की ख़िदमत में आज़ादी के बाद से लगा हुआ है। पहले भी चार बार प्रधानमंत्री रह चुके व्यक्ति से जनता क्या उम्मीद कर सकती है। विक्रमसिंघे उसी दक्षिणपन्थी पार्टी से है जिसके नेतृत्व में ही देश में 1977 में नवउदारवादी नीतियों की शुरुआत हुई थी। आज स्थिति यह है कि इस पार्टी से बस रानिल ही एकमात्र सांसद के तौर पर संसद में पहुँचा है। इतनी अप्रिय पार्टी के किसी व्यक्ति को श्रीलंका की जनता शीर्ष पर मंज़ूर नहीं कर सकती है। लेकिन जनता के पास दूसरा कोई विकल्प भी नहीं है। सभी पार्टियों ने मज़दूर और मेहनतकश जनता का एक समान शोषण-उत्पीड़न किया है।

श्रीलंका की जनता के दु:खों का अभी कोई निकट भविष्य में अन्त होता दिखाई नहीं दे रहा है। ईंधन, खाद्य पादार्थ, दवाओं आदि की किल्लत बनी हुई है। देश की 70 प्रतिशत आबादी दिन में एक बार भोजन कर रही है। महँगाई दर 54 प्रतिशत तक पहुँच गयी है। हर दिन कई-कई घण्टे बिजली नहीं रहती। बिजली की कमी से सड़कों पर रात में अँधेरा रहता है। पेट्रोल-डीज़ल नहीं मिल रहे हैं। बच्चे स्कूल नहीं जा रहे हैं। अस्पतालों में दवा-इलाज नहीं हो रहा। जनता त्राही-त्राही कर रही है और वहीं संकट की आहट मिलते ही देश के बड़े पूँजीपतियों ने अपने पैसे देश से निकाल लिये और कुछ स्वयं भी बाहर जा रहे हैं। जनता के सामने क्रान्तिकारी राजनीति की विकल्पहीनता है। यदि सही मायने में कोई क्रान्तिकारी विकल्प जनता के सामने होता तो वह सबसे पहले पूँजीपतियों की धन-सम्पदा छीनकर जनता की स्थिति में सुधार करने का प्रयास करता। लेकिन कोई भी पार्टी जनता से ऐसी बात करती नज़र नहीं आ रही है। जनता विमुक्ति पेरुमना पार्टी (जेवीपी) की ओर नौजवानों का झुकाव बढ़ रहा है। यह तथाकथित वाम पार्टी भी ऐसी कोई बात करती नज़र नहीं आ रही है। ऐसे काल में संशोधनवादी पार्टियों का भी चरित्र एकदम उजागर हो जाता है। झूठी गर्म-गर्म बातें करना और सत्ता में बैठकर पूँजी की सेवा यही इनका असली रंग होता है। किसी संसदमार्गी संशोधनवादी पार्टी के पास मज़दूर-मेहनतकश की परेशानियों का कोई समाधान हो ही नहीं सकता। ख़ैर जो भी हो श्रीलंका की जनता के पास अभी कोई भी क्रान्तिकारी विकल्प नहीं दिख रहा है। ज़्यादा से ज़्यादा यह सम्भव होगा कि कोरोना महामारी के कम होने की स्थिति में एक बार फिर पर्यटन पर ज़ोर बढ़ाया जायेगा। लेकिन राजनीतिक उथल-पुथल की स्थिति बरक़रार रहने पर यह भी सम्भव नहीं होगा। कुछ विदेशी मदद की बैसाखी और जनता के घोर शोषण के आधार पर अर्थव्यवस्था को कुछ सामान्य करने की कोशिश की जायेगी। लेकिन ऐसी बैसाखी लम्बी चलेगी नहीं। सत्ता वर्ग जनता के बीच धर्म, रंग आदि के आधार पर भेद-भाव का ज़हर फैलायेगा और देशी-वेदशी पूँजी की लूट जारी रखेगा। देशी पूँजीपति वर्ग, विदेशी व साम्राज्यवादी पूँजी के साथ मिलकर देश के मज़दूर और मेहनतकश वर्ग का शोषण-उत्पीड़न जारी रखेगा। इनका प्रतिनिधित्व करने वाली राजनीतिक पार्टियाँ इनका हित साधती रहेंगी और जनता को आपस में बाँटकर शोषण की चक्की जारी रखेगी।

श्रीलंका के संकट का इतिहास

श्रीलंका में उत्पन्न संकट की जड़ मुनाफ़े की गिरती दर से पैदा पूँजीवादी संकट ही है। मुनाफ़े की गिरती दर पूँजीवादी उत्पादन पद्धति का आम नियम है। मुनाफ़े की गिरती दर का यह संकट पैदा होने के साथ उत्पादक निवेश कम करते हैं और निवेश कम होने की सूरत में बेरोज़गारी बढ़ती है, ग़रीबी बढ़ती है, अल्पउपभोग होता है, बाज़ार में सुस्ती आ जाती है। श्रीलंका की स्थिति में भी हम इसी प्रक्रिया का दुहराव देखते हैं। नवउदारवादी नीतियों के लिए दक्षिण एशिया में सबसे पहले दरवाज़ा खोलने वाली पूँजीवादी अर्थव्यवस्था अपनी आन्तरिक गति से बेहद कमज़ोर थी। कुछ बेहद अल्पजीवी राहत के दौर के अलावा यह लगातार संकट के दौर से गुज़रती रही है। राहत के दौर जो भी रहे उसमें मज़दूर और मेहनतकश वर्गों की स्थिति में कोई सुधार नहीं आया। लेकिन आर्थिक संकट के दौर दक्षिणपन्थी राजनीति को हवा देते रहे और उसमें आम मेहनतकश मज़दूर आबादी निश्चित पिसती, क़त्ल होती रही। इतिहास गवाह है पूँजीवादी संकट ने आम तौर पर हर जगह तानाशाही, अन्धराष्ट्रवाद और फ़ासीवाद की राजनीति को जन्म दिया है इसे पाला-पोसा है। एशिया, अफ़्रीका और लातिन अमेरिका के देशों में नवउदारवादी नीतियों की शुरुआत के बाद तानाशाही, फ़ासीवादी, दक्षिणपन्थी व अन्धराष्ट्रवादी राजनीति को जम कर हवा दी गयी। श्रीलंका की राजनीति भी इसी प्रक्रिया का एक प्रातिनिधिक उदाहरण है। जैसा कि हमने पहले भी कहा दक्षिण एशिया में नवउदारवादी नीतियों के प्रयोग का प्रथम चरागाह श्रीलंका बना। चन्द एक वर्षों में ही नवउदारवादी नीतियों का हवाई महल काफ़ूर हो गया और बच गयी मन्दी, बेरोज़गारी, महँगाई, छँटनी और तालाबन्दी। इसके साथ ही श्रीलंका के राजनीतिक परिदृष्य में सिंहली अन्धराष्ट्रवाद और तमिल अल्पसंख्यकों के ख़िलाफ़ नफ़रत को हवा दी गयी। यह घोर प्रतिक्रियावादी राजनीति भी औपनिवेशिक काल से ही चली आ रही थी। इसे भी फूट डालो और राज करो की नीति के तहत हम देख सकते हैं जिसे आज़ादी के बाद श्रीलंका के शोषक वर्ग ने औपनिवेशिक धरोहर की तरह अपनाया। इस पर हम लेख में आगे चर्चा करेंगे। फ़िलहाल, संकट के मूल कारण पर लौटते हुए आज़ादी के बाद श्रीलंका में लम्बे समय तक दो पार्टियों संयुक्त राष्ट्रीय पार्टी (यूनाइटेड नेशनल पार्टी) और श्रीलंका स्वतंत्रता पार्टी (श्रीलंका फ़्रीडम पार्टी) का शासन रहा। यूएनपी बाग़ान मालिकों, सामन्तों के हितों की रक्षा करती थी और दूसरी ओर एसएलएफ़पी अपने शुरुआती दौर में समाजवादी व कल्याणकारी राज्य के आवरण तले पूँजीवाद की दूरदर्शी पार्टी की भूमिका में रही। नवउदारवादी नीतियों की शुरुआत के बाद दोनों की राजनीति में कोई ख़ास परिवर्तन नहीं रह गया। पार्टी चाहे कोई भी रही हो नेता-मंत्री उसी कुलीन शासक वर्ग के रहे जो आज़ादी के समय से ही सत्ता में क़ाबिज़ थे। इस वर्ग का देश के उद्योग और व्यापार पर भी ख़ासा नियंत्रण है। इनके बीच से आया कोई भी नेतृत्व श्रीलंका की जनता को उनके कष्टों से निजात नहीं दिला सकता।

1948 में आज़ादी हासिल करने के बाद सत्ता में संयुक्त राष्ट्रीय पार्टी आयी। अंग्रेज़ों ने संयुक्त राष्ट्रीय पार्टी को भविष्य के अपने हितों को देखते हुए सबसे उपयुक्त पाया और इसलिए आज़ादी के समय सत्ता इसे सौंपी। आज़ादी प्राप्त होने के बाद आम जनता की उम्मीदों के विपरीत सेनानायके के नेतृत्व वाली संयुक्त राष्ट्रीय पार्टी ने औपनिवेशिक काल की अर्थव्यवस्था ही जारी रखी। चाय, रबर और नारियल के बाग़ान व बाग़ान आधारित उद्योग पर निर्भर निर्यात अर्थव्यवस्था जारी रही। बाग़ानों के मज़दूरों का भयंकर शोषण जारी रहा और किसानों के बीच सुसंगत रूप से बुर्जुआ भूमि सुधार भी नहीं हुए। 1948 से 1956 तक स्टिफ़ेन सेनानायके और उसके बेटे ड्युडली सेनानायके सत्ता में इसी अर्थव्यवस्था के साथ बने रहे। श्रीलंका मुख्यत: बाग़ान व कृषि आधारित अर्थव्यवस्था थी जिसमें आधारभूत औद्योगिक विकास न के बराबर था। इसकी वजह से श्रीलंका की अन्य सभी ज़रूरतों की पूर्ति के लिए आयात पर निर्भरता बनती थी। इस निर्भरता को समाप्त करने के लिए देश में आधारभूत औद्योगिक विकास की आवश्यकता थी जिसे संयुक्त राष्ट्रीय पार्टी ने टाला था।

पूँजीवाद के ज़्यादा दूरदर्शी राजनीतिक प्रतिनिधि की तरह 1960 में सिरीमावो भण्डारनायके सत्ता में आयी और आयात-प्रतिस्थापन आधारित औद्योगिकीकरण की नीति अपनायी। यानी आयात पर निर्भरता को कम करने के लिए उद्योगों का विकास। भण्डारनायके गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की संस्थापक सदस्य भी थीं। दोनों विश्वशक्तियों के साथ मोल-भाव की नीति इन्होंने अपनायी। अपने तथाकथित समाजवादी आवरण वाले पूँजीवादी विकास के लिए संशोधनवादी सोवियत रूस से मदद मिली। इस्पात, टायर व चीनी उद्योग स्थापित करने में रूस ने श्रीलंका की मदद की। आईएमएफ़ से भी इस दौरान क़र्ज़ लिये गये।

लेकिन भारत की तरह ही इस समाजवादी आवरण की ज़िन्दगी बेहद लम्बी नहीं रही। श्रीलंका की स्थिति कई मायनों में जटिल थी। स्वतंत्र पूँजीवादी विकास के लिए पर्याप्त मात्रा में पूँजी और तकनोलॉजी उसके पास थी नहीं। दोनों विश्व शक्तियों के बीच मोलभाव करने के बावजूद कच्चे माल तक के लिए भी श्रीलंका को आयात पर निर्भर रहना पड़ता था। 1965-66 में श्रीलंका भयंकर भुगतान सन्तुलन घाटे से गुज़र रहा था। यानी देश में आने वाले धन की तुलना में देश से बाहर जाने वाला धन अधिक था। ऐसी स्थिति में श्रीलंका को अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से क़र्ज़ लेने की नौबत आ गयी। आज़ादी के बाद लम्बे समय तक श्रीलंका के विदेशी मुद्रा भण्डार का 90 फ़ीसदी हिस्सा केवल रबर, चाय, नारियल के निर्यात पर निर्भर था। इस निर्यात से होने वाली आय का 10 फ़ीसदी हिस्सा उत्पादन और आधारभूत संरचनाओं के विकास में लगाया जाता था। बाक़ी का 90 फ़ीसदी हिस्सा पूँजीवादी चुनावों, चुनावी वायदों को पूरा करने, घपले-घोटाले, और पूँजीवादी राज्य मशीनरी, नेताशाही-नौकरशाही आदि का ख़र्च उठाने की भेंट चढ़ जाता था। इस प्रकार आय का बड़ा हिस्सा अनुत्पादक क्षेत्रों में लगाया जाता रहा है जिसकी वजह से सरकारी ख़र्च हमेशा आय से ज़्यादा रहा है और बजट घाटे में रहा। इस घाटे को कम करने के लिए और उद्योगों के विकास पर अधिक बल देने के लिए पूँजीवादी घरानों, कॉरपोरेट घरानों पर प्रत्यक्ष कर लगाना चाहिए था। यह किसी भी सरकार ने नहीं किया। अब बजट घाटे को पाटने के लिए और 1973 में तेल झटके की वजह से बिगड़े हुए भुगतान सन्तुलन के संकट से निपटने के लिए तत्कालीन प्रधानमंत्री जेआर जयवर्धने ने क़र्ज़ के लिए अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष (आईएमएफ़) की शरण ली।

नवउदारवादी नीतियों की शुरुआत

1977 में संयुक्त राष्ट्रीय पार्टी ने रोज़गार और समृद्धि के सपने दिखाते हुए जेआर जयवर्धने के नेतृत्व में आधिकारिक तौर पर नवउदारवादी नीतियों की शुरुआत की। देशी-विदेशी पूँजी के लिए सारे दरवाज़े खोल दिये गये। 10 वर्ष के लिए सभी पूँजी निवेश को टैक्स हॉलिडे (कर से छुट्टी) दिया गया। नियम क़ानूनों को निवेश के मद्देनज़र पूरा लचीला बनाया गया। देशी-विदेशी पूँजी निवेश और मुनाफ़े के लिए फ़्री ट्रेड ज़ोन (मुक्त व्यापार क्षेत्र) व इन्वेस्टमेण्ट प्रमोशन ज़ोन (निवेश प्रोत्साहन क्षेत्र) बनाये गये। लेकिन नवउदारवादी नीतियों को अपनाया ही पूँजी को संकट से उबारने के लिए गया था। ऐसी स्थिति में उन्हीं क्षेत्रों में निवेश की सम्भावना बन सकती थी जो तत्काल मुनाफ़ा कमा सकें व जिनका बाज़ार अभी बन रहा है। अपने परम्परागत चाय, रबर व नारियल बाग़ान के अलावा श्रीलंका ने इस दौरान कपड़ा उद्योग में देशी-विदेशी पूँजी निवेश देखा। पर्यटन के क्षेत्र में भी निवेश हुआ। अर्थव्यवस्था का असमान विकास कुछ राहत के दौर दे सकता है लेकिन यह लम्बे दौर में संकट को समाप्त या कम नहीं कर सकता। देश के आधारभूत औद्योगिक विकास, शोध, अर्थव्यवस्था के विविधिकरण की अनुपस्थिति में विदेशी निवेश के लिए श्रीलंका बेहद उर्वर ज़मीन नहीं साबित हुआ। जल्द ही निवेश श्रीलंका से बाहर जाने लगे या बड़ी पूँजी ने निवेश ही नहीं किया।

सिंहली-तमिल संकट ने निवेश की स्थिति को और भी कमज़ोर कर दिया। देश के बुर्जुआ वर्ग की नीतियों के कारण पहले से आधारभूत रूप से कमज़ोर अर्थव्यवस्था संकट के सामने टिक नहीं पायी। पूँजीवाद अपनी गति से संकट पैदा करता है। कोई भी पूँजीवादी अर्थव्यवस्था संकट से बच नहीं सकती। लेकिन आन्तरिक तौर पर कमज़ोर अर्थव्यवस्था संकट के सामने धराशाई हो जाती है। ऐसे में श्रीलंका जैसे देशों की विश्व पूँजीवादी आर्थिक तंत्र पर निर्भरता बढ़ जाती है। श्रीलंका के बुर्जुआ वर्ग ने भारत के बुर्जुआ वर्ग जैसी दूरदर्शिता नहीं दिखायी, जिसने नेहरू के नेतृत्व में "समाजवाद" का जुमला उछालकर आयात-प्रतिस्थापन, संरक्षणवाद और

(पेज 14 पर जारी)

मज़दूर शिक्षण माला-3

कुछ बुनियादी अवधारणाएँ जिन्हें समझना ज़रूरी है – 2

– अभिनव

पिछली बार हमने कुछ बेहद बुनियादी अवधारणाओं को समझने के साथ शुरुआत की थी, मसलन, उत्पादक शक्तियाँ, उत्पादन सम्बन्ध, मूलाधार या आर्थिक आधार, अधिरचना, इत्यादि। साथ ही, हमने यह भी समझा था कि आर्थिक आधार में निहित बुनियादी अन्तरविरोध क्या है, अधिरचना में निहित बुनियादी अन्तरविरोध क्या है और साथ ही आर्थिक आधार और अधिरचना के बीच का अन्तरविरोध किस प्रकार समूचे मानव समाज की गति को व्याख्यायित करता है। हमने यह भी समझा था कि आर्थिक आधार में निहित आर्थिक अन्तरविरोध समाज का बुनियादी अन्तरविरोध होता है और इस अन्तरविरोध की प्रकृति के आधार पर ही समाज के चरित्र का निर्धारण होता है और यह कि यह बुनियादी अन्तरविरोध जब अपने आपको वर्गीय स्वरूप में अभिव्यक्त करता है, तो वह वर्ग संघर्ष के रूप में प्रकट होता है और यही इतिहास या समाज को गति देने वाली तात्कालिक या अव्यवहित प्रेरक शक्ति होता है। इस बार हम यह समझने का प्रयास करेंगे कि प्रकृति और समाज के विषय में मनुष्य का ज्ञान किस प्रकार विकसित होता है।

यह समझना क्यों ज़रूरी है? यह समझना इसलिए ज़रूरी है क्योंकि चीज़ों को बदलने के लिए चीज़ों को समझना होता है। यदि हम मज़दूर वर्ग और मेहनतकश आबादी के शोषण व उत्पीड़न पर आधारित समाज को बदलना चाहते हैं, तो हमें मौजूदा समाज को समझना होगा, हमें उसके इतिहास का ज्ञान हासिल करना होगा। प्रकृति को बदलने पर भी यह बात लागू होती है। साथ ही, बिना समाज और प्रकृति को बदलने का प्रयास किये, बिना प्रत्यक्ष रूप से उसके सम्पर्क में आये, उसे जाना भी नहीं जा सकता है। इसलिए चाहे प्रकृति के क्रान्तिकारी रूपान्तरण का प्रश्न हो या फिर समाज के क्रान्तिकारी रूपान्तरण का, उसके विषय में हमारे ज्ञान के विकास की प्रक्रिया को गहराई से समझना बेहद ज़रूरी है। इस बार हम इसी विषय पर चर्चा करेंगे।

ज्ञान के प्रति मज़दूर वर्ग का वैज्ञानिक नज़रिया

मनुष्य का ज्ञान प्रकृति के विषय में हो सकता है, समाज के बारे में हो सकता है, या फिर वह विचारों के बारे में हो सकता है। समाज प्रकृति का ही विस्तार होता है। प्रकृति के विकास की एक विशिष्ट मंज़िल में ही जीवन का विकास हुआ। जीवन के विकास की प्रक्रिया में ही मनुष्य की प्रजाति का उद्भव और विकास हुआ। मनुष्य के विकास के साथ ही विचार का एक उन्नत मंज़िल में विकास हुआ। इस रूप में प्रकृति, समाज और विचार के जगत के विकास में आम तौर पर प्रकृति का पहलू बुनियादी है। हमारे सामने जो समूचा भौतिक जगत या यथार्थ मौजूद है, उसके ये ही तीन हिस्से हैं : प्रकृति, उसके विस्तार के रूप में समाज और उन दोनों के विस्तार के रूप में विचार। इन तीन हिस्सों में ही हमारा समूचा यथार्थ अस्तित्वमान होता है। नतीजतन, हमारा ज्ञान भी इन तीन पहलुओं के विषय में ही विकसित होता है।

हमने ऊपर कहा कि चीज़ों को बदलने के लिए चीज़ों को समझना होता है। लेकिन चीज़ों को समझा कैसे जाता है? क्या विद्वान लोग प्रकृति और समाज और साथ ही विचार जगत के बारे में ज्ञान को अपने अध्ययन कक्षों में पैदा कर लेते हैं? क्या ज्ञान आसमान से टपकता है? यानी क्या इस भौतिक दुनिया से ऊपर कोई ईश्वरीय सत्ता है, जो ज्ञान को जन्म देती है? कुछ लोगों का मानना था कि ज्ञान व्यक्ति अपने दिमाग़ से पैदा कर लेता है। ऐसे लोगों का मानना था कि ज्ञान मनुष्य के मस्तिष्क में पैदा होता है। वहीं कुछ दूसरे लोगों का मानना है कि दुनिया वास्तव में ईश्वर या किसी दिव्य विचार की ही एक अभिव्यक्ति है और सभी चीज़ों के बारे में ज्ञान किसी ईश्वरीय नियम द्वारा पहले से तय है और हमें बस उस धार्मिक या आध्यात्मिक नियम को समझ लेना है और फिर हम हर चीज़ के बारे में ज्ञान को हासिल कर सकते हैं। जो ज्ञान को मनुष्य के मस्तिष्क की पैदावार मानते हैं उन्हें मनोगत भाववादी कहा जाता है। जो ज्ञान का स्रोत किसी ईश्वरीय या आध्यात्मिक सत्ता में देखते हैं, जो भौतिक विश्व से पहले और उससे परे कहीं मौजूद थी, उन्हें वस्तुगत भाववादी कहा जाता है। ये दोनों ही भाववादी सोच को मानते हैं : यानी ये भौतिक यथार्थ को बुनियादी और प्राथमिक नहीं मानते हैं, बल्कि विचार को प्राथमिक मानते हैं। पहला इस विचार का स्रोत ईश्वर या अध्यात्म में देखता है तो दूसरा इस विचार का स्रोत आदमी के मन को या दिमाग़ को मानता है।

भाववादी सोच यह नहीं बता पाती कि ज्ञान आख़िर पैदा कहाँ से और कैसे होता है। मज़दूर वर्ग का नज़रिया भौतिकवादी होता है। भौतिकवादी नज़रिया सही और वैज्ञानिक नज़रिया होता है। ज्ञान के बारे में भौतिकवादी नज़रिया क्या है?

भौतिकवादी नज़रिया साफ़ तौर पर बताता है कि विचार भौतिक पदार्थ से स्वतंत्र और उससे इतर कहीं मौजूद नहीं होता। उल्टे विचार पदार्थ के विकास की ही एक उन्नत अवस्था का गुण होता है, यानी मस्तिष्क का गुण होता है। इस मस्तिष्क के पैदा होने से पहले विचार का कोई अस्तित्व नहीं था। भौतिक यथार्थ चेतना से स्वतंत्र और उससे बाहर मौजूद है और चेतना इसी भौतिक यथार्थ का (सही या ग़लत, या, आंशिक तौर पर सही या ग़लत) प्रतिबिम्बन या छाया होती है। मसलन, अगर आपने कभी शेर नहीं देखा तो भी शेर का वजूद सवालों से परे है! शेर आपके देखने से नहीं पैदा होता बल्कि शेर होता है इसलिए आप उसे देखते हैं और उसके बारे में आपका ज्ञान पैदा होता है!

लेकिन मज़दूर वर्ग ज्ञान के बारे में केवल भौतिकवादी ही नहीं होता, बल्कि वह द्वन्द्ववादी भी होता है। इसका क्या मतलब है?

इसका मतलब यह है कि दुनिया को जानना और बदलना आपस में जुड़ा हुआ है। न तो दुनिया को बदले बिना दुनिया को जाना जा सकता है और न ही उसे जाने बिना उसे योजनाबद्ध तौर पर बदला जा सकता है। कुछ लोगों का मानना है कि दुनिया यानी भौतिक यथार्थ का विचारों से स्वतंत्र अस्तित्व तो है, मगर उसे जानना सम्भव नहीं है क्योंकि हमारी आँखें, हमारी नाक, कान, जीभ, त्वचा आदि इन्द्रियाँ दुनिया के बारे में हमें सही बता रही हैं या नहीं, इसे सुनिश्चित करने का कोई तरीक़ा नहीं है। ऐसे लोगों को अज्ञेयवादी कहा जाता है। वे अस्तित्व और चेतना की एकता को नहीं समझते। 'अज्ञेय' का अर्थ होता है, जिसे न जाना जा सके। लेकिन मज़दूर वर्ग का दर्शन अज्ञेयवाद का विरोध करता है और बताता है कि दुनिया को जाना जा सकता है। दुनिया के बारे में हमारा ज्ञान सही है या नहीं है, इसकी कसौटी भी व्यवहार ही है। एक अज्ञेयवादी दार्शनिक ने सवाल किया : "मेरी आँखें मुझे बता रही हैं कि मेरे सामने एक सेब रखा है, लेकिन मैं पक्का कैसे मानूँ कि वह सेब ही है? यह पक्का कैसे होगा कि मेरी इन्द्रियाँ यानी आँखें मुझे सही बता रही हैं?" मज़दूर वर्ग के दर्शन ने इसका जवाब दिया : "सेब को खाकर उसका आकार बदल दीजिए, आपको पता लग जायेगा कि वह सेब है या नहीं!" मज़दूर वर्ग अज्ञेयवादियों के उलट यह मानता है कि दुनिया को जाना जा सकता है। लेकिन मज़दूर वर्ग यह भी मानता है कि दुनिया सतत् गतिमान है और उसे देख पाने की हमारी इन्द्रियों की भी एक सीमा होती है। इसलिए मज़दूर वर्ग यह जानता है और मानता है कि हमारा ज्ञान हमेशा अधूरा होता है, सापेक्ष होता है, और सतत् गतिमान होता है। इसलिए निरपेक्ष ज्ञान कुछ भी नहीं होता, सिवाय सापेक्ष ज्ञानों की अनन्त श्रृंखला के। अज्ञेयवादी लोग भौतिक जगत और उसके बारे में ज्ञान के सम्बन्ध को तोड़ देते हैं, उनकी एकता को नहीं समझते।

वहीं कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो कि दुनिया को मूलत: अपरिवर्तनशील मानते हैं। उनका मानना है कि दुनिया में सभी परिवर्तन परिमाणात्मक होते हैं यानी वे चीज़ों में घटती या बढ़ती के रूप में होते हैं या फिर सिर्फ़ उनकी अवस्थिति (पोज़ीशन) में बदलाव के रूप में होते हैं। चूँकि पदार्थ में कोई गुणात्मक परिवर्तन नहीं होता, इसलिए दुनिया उनके लिए गतिमान नहीं होती और उसके बारे में ज्ञान भी गतिमान नहीं होता। ऐसे लोगों को अधिभूतवादी कहा जाता है। यानी वे लोग जो गुणात्मक परितर्वन और गति में यक़ीन नहीं करते और परिमाणात्मक परिवर्तन के पीछे भी किसी बाह्य शक्ति को देखते हैं, चीज़ों के भीतर मौजूद आन्तरिक अन्तरविरोध को नहीं।

लेकिन सच यह है कि दुनिया में हर चीज़ अपने आन्तरिक अन्तरविरोध से ही बनती है और उस आन्तरिक अन्तरविरोध के कारण ही सतत् गतिमान रहती है। और इसी प्रकार हर चीज़ के बारे में ज्ञान भी सतत् गतिमान रहता है, स्थिर नहीं। आप किसी भी चीज़ के बारे में कोई अन्तिम निरपेक्ष सत्य नहीं तलाश सकते और यदि कोई अन्तिम निरपेक्ष सत्य है तो वह केवल यही है कि हर चीज़ सतत् गतिमान है और उसके बारे में इन्सान का ज्ञान भी सतत् गतिमान है।

अब अपने बुनियादी सवाल पर वापस आते हैं : आख़िर मनुष्य का ज्ञान विकसित कैसे होता है? जैसा कि हमने पहले बताया कि यदि किसी चीज़ को बदलना है, तो उसे जानना और उसे समझना ज़रूरी है। मिसाल के तौर पर, अगर हम मज़दूर वर्ग के शोषण पर टिके मौजूदा पूँजीवादी समाज को बदलना चाहते हैं, तो हमें उससे समझना होगा। लेकिन समझने का काम अध्ययन कक्षों में बैठकर नहीं किया जा सकता है, हालाँकि जानने की प्रक्रिया में अध्ययन का महत्व भी बहुत बुनियादी है। आगे हम देखेंगे क्यों और कैसे?

चीज़ों को जानने के लिए उनके सम्पर्क में आना ज़रूरी है। निश्चित तौर पर, आज हमें दुनिया की तमाम चीज़ों के बारे में, लोगों के बारे में, जगहों के बारे में तमाम जानकारियाँ किताबों से, टेलीविज़न से, रेडियो से, अख़बारों से (हालाँकि पूँजीपति वर्ग के नियंत्रण में मीडिया के ये तमाम रूप आज ज्ञान से ज़्यादा अज्ञान फैलाने के उपकरण हैं!) मिल सकती हैं। हमारे लिए यह अप्रत्यक्ष ज्ञान है। लेकिन हमारे लिए जो अप्रत्यक्ष ज्ञान है, यानी जो हमारे द्वारा इन चीज़ों, लोगों, जगहों आदि के सम्पर्क में आने से हमें नहीं मिला है, वह भी किसी न किसी का प्रत्यक्ष ज्ञान है। ऐसा कोई ज्ञान नहीं हो सकता जो किसी का प्रत्यक्ष ज्ञान न हो, चाहे वह वस्तुओं के बारे में हो, व्यक्तियों के बारे में हो या जगहों के बारे में। वास्तव में, किसी भी वस्तु या प्रक्रिया के बारे में कोई भी ज्ञान मूलत: प्रत्यक्ष ज्ञान ही होता है, भले ही वह हमें तमाम माध्यमों से अप्रत्यक्ष रूप में मिल जाता हो। इसलिए ज्ञान का स्रोत सामाजिक व्यवहार होता है। जब मनुष्य अपने जीवन के उत्पादन और पुनरुत्पादन के लिए प्रकृति से सम्पर्क में आता है, जब वह समाज के वर्ग संघर्ष में सचेतन या अचेतन तौर पर हिस्सा लेता है और जब वह विचारों में परिवर्तन के लिए वैज्ञानिक प्रयोग करता है, तो ही वह प्रकृति, समाज और विचार जगत के बारे में अपने ज्ञान को पैदा और विकसित कर सकता है। इसके अलावा, दुनिया को जानने का और कोई तरीक़ा नहीं है।

जब इन्सान अपने जीवन के उत्पादन व पुनरुत्पादन की भौतिक आवश्यकताओं और पूर्वशर्तों को पूरा करने के लिए प्रकृति का रूपान्तरण करता है (क्योंकि उत्पादन मूलत: प्रकृति का रूपान्तरण करके ही सम्भव है) तो वह क़दम-दर-क़दम प्रकृति के बारे में अपने ज्ञान को विकसित करता जाता है। खेती के बारे में ज्ञान की शुरुआत खेती से होती है, खेती के बारे में लिखी गयी किताबों से नहीं! तमाम चीज़ों को बनाने का ज्ञान भी उत्पादन की प्रक्रिया यानी कि प्रकृति से अन्तर्क्रिया की प्रक्रिया से ही पैदा हुआ है, चाहे वे धातु से बनती हों, लकड़ी से बनती हों, चाहे उनमें खनिज व रसायनों का उपयोग होता हो, या फिर किसी अन्य वस्तु का, क्योंकि हर उत्पाद के निर्माण के लिए आवश्यक कच्चा माल हमें प्रकृति से ही मिलता है। आज के युग में जो ऐसे उत्पाद बन रहे हैं, जो किसी उपयोगी सेवा या प्रभाव के रूप में हों और जिन्हें छुआ न जा सकता हो, उनका उत्पादन भी प्रकृति से अन्तर्क्रिया के बिना सम्भव नहीं है, भले ही प्रत्यक्ष तौर पर ऐसा नज़र न आता हो। मसलन, एक कम्प्यूटर सॉफ़्टवेयर। लेकिन एक कम्प्यूटर सॉफ़्टवेयर को बनाने के लिए कम्प्यूटर हार्डवेयर की भी आवश्यकता होती है, जिसके निर्माण के लिए तमाम कच्चे मालों की आवश्यकता होती है, जो कि मूलत: प्रकृति से ही प्राप्त होते हैं। जैसे-जैसे उत्पादन विकसित होता है, वैसे-वैसे मनुष्य का प्रकृति के बारे में ज्ञान भी विकसित होता है। इसलिए भौतिक यथार्थ के बुनियादी पहलू यानी प्रकृति के विषय में मनुष्य का ज्ञान सामाजिक व्यवहार के बुनियादी रूप, यानी उत्पादन के लिए संघर्ष के ज़रिए

(पेज 9 पर जारी)

कुछ बुनियादी अवधारणाएँ जिन्हें समझना ज़रूरी है – 2

(पेज 8 से आगे)

पैदा होता है और विकसित होता है।

लेकिन उत्पादन के विकास के साथ ही समाज भी नयी मंज़िलों में प्रवेश करता है। जब उत्पादन बेहद कम विकसित था और आदिम क़बीले शिकार और कन्द-मूल एकत्र करने और थोड़ी-बहुत खेती के ज़रिए केवल इतना ही पैदा कर पाते थे कि मुश्किल से क़बीले के सभी सदस्यों को खाने योग्य नसीब हो जाये, तो क़बीलों के भीतर वर्ग नहीं पैदा हो सकते थे। कुछ लोग उत्पादन के कुछ अधिक हिस्से पर क़ब्ज़ा तभी कर सकते हैं, जबकि उत्पादन इतना हो रहा हो कि एक सामाजिक अधिशेष बचता हो, यानी उत्पादन की वह मात्रा जो कि ख़र्च उत्पादन के साधनों और श्रमशक्ति के पुनरुत्पादन के बाद बेशी बचता हो। ऐसे में, मुट्ठीभर लोग इस अतिरिक्त उत्पादन पर अपना नियंत्रण और फिर स्वामित्व स्थापित करते हैं और कालान्तर में इसी के बूते वे अपने आपको उत्पादक श्रम से काट लेते हैं। जिनके पास सामाजिक अधिशेष पर क़ब्ज़ा होता है, वे भी धीरे-धीरे उत्पादन के साधनों और भूमि को भी निजी सम्पत्ति में तब्दील करने में कामयाब होते हैं। जिनके पास उत्पादन के साधनों के बड़े हिस्से पर नियंत्रण व स्वामित्व हो और जिनके पास सामाजिक अधिशेष पर क़ब्ज़ा हो, वे ही समाज में शासक वर्ग का रूप लेते हैं, जबकि बाक़ी आबादी शासित आबादी का स्वरूप लेती है, जिसमें प्रत्यक्ष उत्पादक वर्ग और बीच के ऐसे वर्ग शामिल होते हैं, जो सीधे शासक वर्ग भी नहीं हैं और सीधे प्रत्यक्ष उत्पादन में भी नहीं लगे हैं, बल्कि बौद्धिक व अन्य प्रकार के पेशों में लगे होते हैं या शासक वर्ग के अहलकार होते हैं। उत्पादक शक्तियों के विकास के साथ अतिरिक्त उत्पादन के बिना समाज का वर्गों में विभाजन सम्भव नहीं है। जब समाज में वर्गों का उदय होता है, तो शासक वर्ग को अपने प्रभुत्व को क़ायम रखने के लिए एक ऐसे उपकरण की ज़रूरत होती है, जो कि शासित वर्गों को बलपूर्वक अपने मातहत रखे और साथ ही उन पर विचारधारात्मक प्रभाव स्थापित करने में एक भूमिका निभाये। इसी के साथ, सेना, सशस्त्र बलों, पुलिस, अफ़सरशाही, न्यायपालिका, आदि अस्तित्व में आते हैं। इन संस्थाओं को ही सामग्रिक तौर पर राज्यसत्ता कहा जाता है। इसलिए जैसे-जैसे उत्पादक शक्तियाँ उत्पादक वर्गों द्वारा प्रकृति के रूपान्तरण के साथ विकसित होती हैं और जैसे-जैसे उत्पादन बढ़ता है और सामाजिक अधिशेष पैदा होने की मंज़िल आती है, वैसे-वैसे वर्गों के प्रादुर्भाव की प्रक्रिया शुरू होती है, वर्ग समाज अस्तित्व में आते हैं, वर्ग संघर्ष शुरू होता है और राज्यसत्ता का उदय होता है।

वर्ग संघर्ष में हिस्सेदारी के साथ शासक वर्ग और शासित वर्ग समाज के बारे में अपना ज्ञान विकसित करते हैं। ज़ाहिर है इस ज्ञान का सीधे-सीधे एक वर्ग चरित्र होता है। शासक वर्ग का "ज्ञान" वास्तव में सच्चाई को छिपाने का काम करता है यानी विचारधारात्मक होता है, क्योंकि उनका हित शोषण, उत्पीड़न, अन्याय और ग़ैर-बराबरी को बचाने में निहित होता है। इसके उलट मज़दूर वर्ग का समाज के बारे में ज्ञान सच्चाई की नुमाइन्दगी करता है क्योंकि उसका हित शोषण, उत्पीड़न, अन्याय और ग़ैर-बराबरी को ख़त्म करने में होता है और इसलिए वह वैज्ञानिक होता है। इसलिए समाज के बारे में भी सही मायने में ज्ञान वर्ग संघर्ष द्वारा सर्वहारा वर्ग अपने ज्ञान के विकास के साथ ही करता है। सर्वहारा वर्ग ही यह कर सकता था क्योंकि वह हर प्रकार के उत्पादन के साधनों से वंचित होता है, "दोहरे अर्थों में मुक्त" (यानी अपनी श्रमशक्ति किसी भी पूँजीपति को बेचने के लिए मुक्त और उत्पादन के साधनों से मुक्त!) होता है, उन्नत औद्योगिक उत्पादन में लगा होता है, बड़े पैमाने के सामाजिक उत्पादन में लगा होता है और उसके अन्दर संकीर्ण बौद्धिक सीमाओं का अतिक्रमण करने की क्षमता होती है। यह सर्वहारा वर्ग ही है जिसके अतिरिक्त श्रम को हड़पकर पूँजीपति वर्ग मुनाफ़ा कमाता है और यह मुनाफ़ा ही पूँजीपति वर्ग और पूँजीवादी समाज का आधार होता है। लेकिन सर्वहारा वर्ग से पहले भी अपने युग और अपने वर्ग की प्रकृति की सीमाओं के भीतर दमित और शोषित वर्गों द्वारा शोषक और शासक वर्गों के विरुद्ध विद्रोह और उनके विरुद्ध उनका वर्ग संघर्ष ही समाज के विषय में ज्ञान का स्रोत रहा है।

सर्वहारा वर्ग पहली वैश्विक और सर्वाधिक गतिमान उत्पादन व्यवस्था यानी पूँजीवाद के साथ अस्तित्व में आता है और इसलिए वह इतिहास का सर्वाधिक क्रान्तिकारी वर्ग है क्योंकि हर प्रकार की निजी सम्पत्ति से वंचित होने के कारण उसमें एक सार्वभौमता है और निजी सम्पत्ति की व्यवस्था को समाप्त कर सामूहिक सम्पत्ति पर आधारित एक अधिक वैज्ञानिक व्यवस्था यानी समाजवाद को स्थापित करने में व्यापक मेहनतकश जनता को नेतृत्व देने का काम वही कर सकता है। लेकिन उससे पहले अपने-अपने युग में दासों, किसानों, दस्तकारों और एक युग में विशेष तौर पर क्रान्तिकारी बुर्जुआ वर्ग के वर्ग संघर्ष ने भी ज्ञान को अपने युग की सीमाओं में विकसित किया। सर्वहारा वर्ग इस समूचे ज्ञान का सच्चा वारिस होता है और वही इसके वर्ग पूर्वाग्रहों या संकीर्ण सीमाओं का निषेध करके उसे आगे विकसित भी कर सकता है। आज पूँजीपति वर्ग शासक और दमनकारी वर्ग बनने के साथ वह क्रान्तिकारी भूमिका खो चुका है जो कि उसमें तब तक थी जब तक कि वह स्वयं एक शासित वर्ग के रूप में सामन्तवाद से लड़ रहा था। जब वह स्वयं शासक वर्ग बन गया तो वह स्वयं एक दमनकारी और उत्पीड़क वर्ग बन गया और अब वह समाज और उसके बारे में ज्ञान को आगे ले जाने का अभिकर्ता (एजेण्ट) नहीं रह गया है, बल्कि यथास्थिति बनाये रखने, यानी इतिहास को पीछे ले जाने वाली शक्ति बन चुका है, यानी एक प्रतिक्रियावादी शक्ति बन चुका है।

आज समाज और उसके विषय में ज्ञान को विकसित करने का काम इतिहास का अब तक का सबसे क्रान्तिकारी वर्ग यानी सर्वहारा वर्ग ही अपने वर्ग संघर्ष के ज़रिए कर सकता है। बहरहाल, इतना स्पष्ट है कि ज्ञान का दूसरा सबसे अहम स्रोत है सामाजिक व्यवहार का यह दूसरा रूप, यानी, वर्ग संघर्ष। वर्ग संघर्ष आर्थिक रूपों में ही नहीं होता, बल्कि राजनीतिक और विचारधारात्मक रूपों में भी होता है और समाज के क्रान्तिकारी रूपान्तरण के लिए वस्तुत: राजनीतिक और विचारधारात्मक संघर्ष विशेष महत्व रखते हैं, हालाँकि वर्ग संघर्ष के ये तीनों ही रूप नाभिनालबद्ध रूप से जुड़े हुए हैं। ज्ञान का यह रूप केवल समाज के रूपान्तरण के लिए किये जाने वाले संघर्ष के साथ ही विकसित हो सकता है और पलटकर यह ज्ञान ही समाज के क्रान्तिकारी रूपान्तरण का मार्गदर्शन कर सकता है और इसी प्रक्रिया में अपने आपको लगातार उन्नततर मंज़िलों तक विकसित कर सकता है।

इसके अलावा, मनुष्य अपने वैज्ञानिक प्रयोगों के ज़रिए अपने विचारों की दुनिया का भी क्रान्तिकारी रूपान्तरण करता है। ये वैज्ञानिक प्रयोग केवल विज्ञान की प्रयोगशालाओं में ही नहीं होते हैं, बल्कि स्वयं उत्पादन और वर्ग संघर्ष की प्रक्रिया में भी होते हैं। वैज्ञानिक प्रयोग वास्तव में विचारों के क्रान्तिकारी रूपान्तरण के लिए होते हैं। मिसाल के तौर पर, समाजवादी रूस में जब मज़दूरों की सत्ता क़ायम थी तो वहाँ मज़दूरों ने पूँजीवादी विशेषज्ञों के प्रयोग और उत्पादन को तकनीकी रूप से विकसित करने के एकाधिकार को चुनौती दी और इस काम को ख़ुद अपने हाथों में लिया। इस प्रकार मज़दूरों ने उत्पादन में मौजूद पूँजीवादी श्रम विभाजन पर चोट की और मानसिक और शारीरिक श्रम के विभाजन पर चोट की। यह उत्पादन के लिए जारी संघर्ष में एक वैज्ञानिक प्रयोग था जिसने मज़दूरों की चेतना को उन्नत किया। चीन में भी चीन की कम्युनिस्ट पार्टी और विशेषकर माओ के नेतृत्व में मज़दूर वर्ग और ग़रीब किसानों ने उत्पादन की प्रक्रिया में महान वैज्ञानिक प्रयोग किये और ताचाई और ताचिंग जैसे प्रयोग कृषि व उद्योग के उत्पादन में खड़े किये, जिन्होंने न सिर्फ़ उत्पादकता को तेज़ी से बढ़ाया बल्कि प्रयोग और नवोन्मेष में पूँजीवादी विशेषज्ञों व बुद्धिजीवियों के एकाधिकार पर चोट करते हुए मानसिक और शारीरिक श्रम विभाजन पर चोट की। उसी प्रकार, समाज में जारी वर्ग संघर्ष में भी सर्वहारा वर्ग ने कई प्रयोग किये जिनमें मज़दूर कमेटियों की स्थापना, सोवियतों को व्यवस्थित करना, कम्यूनों की स्थापना करना, आदि शामिल हैं। वर्ग संघर्ष में इन वैज्ञानिक प्रयोगों ने सर्वहारा वर्ग के विचारों का क्रान्तिकारी रूपान्तरण किया। समाजवादी समाज में वैज्ञानिक प्रयोगों की प्रक्रिया में मज़दूर वर्ग और आम मेहनतकश वर्ग की भागीदारी बढ़ती जाती है और वैज्ञानिक प्रयोग भी जनसमुदायों का मसला बन जाता है क्योंकि अब मज़दूर वर्ग और मेहनतकश जनता के पास भी वह समय होता है जिससे कि वह वैज्ञानिक प्रयोगों में हिस्सेदारी कर सके। वह पूँजीवादी शोषण, उत्पीड़न और पूँजीपतियों के मुनाफ़े के लिए 10-12 घण्टे कमरतोड़ मेहनत से मुक्त होता है। उसके पास अब इन वैज्ञानिक प्रयोगों के लिए समय, इच्छा और रचनात्मकता होती है। अब वह जानता है कि देश की समूची सम्पदा पर एक वर्ग के रूप में उसका सामूहिक अधिकार है और वह पूँजीपतियों के एकाधिकार के मातहत नहीं है।

लेकिन पूँजीवादी समाज में एक वर्ग के रूप में मज़दूर वर्ग और एक समूह के रूप में समूचे मेहनतकश जनसमुदाय की वैज्ञानिक प्रयोगों में हिस्सेदारी नहीं बनती है क्योंकि एक पूँजीवादी समाज में आम मेहनतकश आबादी का जीवन वैसा नहीं होता कि वह वैज्ञानिक प्रयोगों में हिस्सेदारी कर सके, चाहे वे उत्पादन की प्रक्रिया में हों, वर्ग संघर्ष में हों, या फिर वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं में होता हो। पूँजीवादी समाज में वैज्ञानिक प्रयोग या तो पूँजीवादी और निम्न-पूँजीवादी बुद्धिजीवी भागीदारी करते हैं, या फिर मज़दूर वर्ग की पार्टी। जहाँ तक पूँजीवादी बुद्धिजीवियों का प्रश्न है, वे पूँजीपति वर्ग की सेवा करते हैं और वैज्ञानिक प्रयोग भी वे पूँजीपति वर्ग के हितों के लिए और उनके टुकड़ों पर पलते हुए करते हैं। जहाँ तक निम्न-पूँजीवादी व मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों का प्रश्न है, वे आम तौर पर व्यक्तिवाद का शिकार होते हैं। मज़दूर वर्ग की ताक़त उसकी सामूहिकता होती है। एक अकेले मज़दूर की पूँजीवादी समाज में कोई ताक़त नहीं होती है और केवल अपनी एकता और संगठन के बल पर ही वह पूँजीपति वर्ग और उसकी राज्यसत्ता से जीत सकता है। लेकिन एक बुद्धिजीवी का जीवन ही ऐसा होता है कि उसको ऐसा लगता है कि अपने जीवन में वह सबकुछ अपनी व्यक्तिगत प्रतिभा या अपने व्यक्तिगत ज्ञान के बूते करता है। प्रतीतिगत तौर पर, जीवन में कोई भी उपलब्धि या पद वह अपनी व्यक्तिगत क्षमता के बूते हासिल करता है। उसकी अलगावग्रस्त जीवनस्थिति बिरले ही उसे समझने की क्षमता देती है कि उसकी क़ाबिलियत, उसका ज्ञान और उसकी प्रतिभा मूलत: और मुख्यत: समाज में निर्मित होती है और उसकी बुनियाद में भी मज़दूर वर्ग का श्रम होता है। उसके भौतिक अस्तित्व की सारी ज़रूरतें भी मेहनतकश वर्ग पूरी करते हैं और उसके ज्ञान का स्रोत भी सामाजिक व्यवहार ही होता है। इसलिए अगर ऐसे निम्न-पूँजीवादी यानी मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी मार्क्सवाद को भी काग़ज़ी तौर पर स्वीकार करते हैं, तो मज़दूर वर्ग की सामूहिकता को स्वीकार करने, संगठन के अनुशासन को स्वीकार करने और क्रान्ति की ज़रूरतों के मद्देनज़र अपनी व्यक्तिगत पसन्द या नापसन्द की क़ुर्बानी देने में उन्हें दिक़्क़त होती है।

केवल ऐसे मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी ही सच्चे मायने में सर्वहारा वर्ग के क्रान्तिकारी बुद्धिजीवी बन सकते हैं जिन्होंने मार्क्सवाद को और सर्वहारा वर्ग के लक्ष्य को वास्तव में आत्मसात किया हो और क्रान्ति और संगठन के हितों को कमान में रखते हुए व्यक्तिवाद, अहंवाद आदि की पूँजीवादी विचारधाराओं के विरुद्ध निर्मम और समझौताविहीन संघर्ष किया हो। ऐसा वे ही बुद्धिजीवी कर सकते हैं जो कि सर्वहारा वर्ग के वर्ग संघर्षों में भागीदारी करते हों। जैसा कि माओ ने बताया था, मार्क्स, एंगेल्स, स्तालिन और लेनिन सर्वहारा वर्ग के क्रान्तिकारी सिद्धान्तों को विकसित ठीक इसीलिए कर सके क्योंकि उन्होंने सर्वहारा वर्ग के वर्ग संघर्षों में हिस्सेदारी की और अपना क्रान्तिकारी रूपान्तरण कर दिया। साथ ही, बुद्धिजीवी का क्रान्तिकारी सन्दर्भ में एक दूसरा अर्थ भी हो सकता है : वे उन्नत मज़दूर जो पढ़-लिखकर क्रान्ति के विज्ञान यानी मार्क्सवाद को समझते हैं, उसे लागू करते हैं और उसके अपने जीवन और कर्मों का मार्गदर्शक सिद्धान्त बना लेते हैं।

बहरहाल, पूँजीवादी समाज में वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा विचारों की दुनिया के क्रान्तिकारी रूपान्तरण का कार्य या तो पार्टी करती है या फिर बुद्धिजीवी। केवल समाजवादी समाज में ही वैज्ञानिक प्रयोगों में जनता की हिस्सेदारी बनती है और वे व्यापक जनसमुदायों का मसला बन जाते हैं, हालाँकि यह पार्टी के रूप में संगठित सर्वहारा वर्ग के हिरावल के नेतृत्व में ही हो सकता है और समाज से पूँजीवादी श्रम विभाजन के पूर्ण समापन और अलगाव के पूर्ण समापन के साथ ही पार्टी के नेतृत्व की आवश्यकता कम हो सकती है। यह एक वर्गविहीन समाज यानी कम्युनिज़्म की ओर आगे बढ़ने

(पेज 10 पर जारी)

कुछ बुनियादी अवधारणाएँ जिन्हें समझना ज़रूरी है – 2

(पेज 9 से आगे)

के साथ ही सम्भव होगा।

अन्त में, हम कह सकते हैं कि प्रकृति और उसके ही अंग और विस्तार के तौर पर समाज और विचारों की दुनिया का रूपान्तरण सामाजिक व्यवहार के तीन रूपों के ज़रिए होता है : उत्पादन के लिए संघर्ष, वर्ग संघर्ष और वैज्ञानिक प्रयोग। उत्पादन के लिए संघर्ष बुनियादी है क्योंकि यह मनुष्य के जीवन के भौतिक उत्पादन और पुनरुत्पादन के लिए अनिवार्य है और यह प्रकृति के रूपान्तरण से जुड़ा है, जो कि समूचे भौतिक यथार्थ का बुनियादी पहलू है। इस संघर्ष का सामाजिक पहलू अपने आपको उत्पादक शक्तियों व उत्पादन सम्बन्धों के संघर्ष के रूप में अभिव्यक्त करता है जो कि समाज के विकास की एक विशिष्ट अवस्था में अपने आपको वर्ग संघर्ष के रूप में प्रकट करता है। वर्ग संघर्ष समाज को गति देने वाला प्रधान अन्तरविरोध है क्योंकि यही समाज के क्रान्तिकारी रूपान्तरण की तात्कालिक (अव्यवहित) प्रेरक शक्ति होती है। विचारों की दुनिया का रूपान्तरण वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा होता है, जो कि पूँजीवादी समाज में पार्टी व बुद्धिजीवी ही करते हैं और केवल समाजवादी समाज में ही आम तौर पर जनता वैज्ञानिक प्रयोगों में हिस्सेदारी करती है और विचारों की दुनिया के क्रान्तिकारी रूपान्तरण को अभूतपूर्व रूप से आगे बढ़ाती है।

प्रकृति, समाज और विचार के रूपान्तरण और उससे जुड़े तीन सामाजिक व्यवहार के रूप में मनुष्य के समूचे ज्ञान का स्रोत है। मनुष्य के ज्ञान का कोई और चौथा स्रोत नहीं होता है। ज्ञान सामाजिक व्यवहार के इन तीन रूपों से ही पैदा होता है और यह पलटकर उनकी ही सेवा करता है। यदि प्रकृति के बारे में ज्ञान पलटकर प्रकृति के रूपान्तरण का काम नहीं करता है, तो वह ज्ञान बेकार है और साथ ही वह मृत हो जायेगा, क्योंकि ज्ञान का सतत् विकास तभी हो सकता है, जबकि वह व्यवहार की सेवा करे। ज्ञान व्यवहार से ही पैदा होता है और उसे लौटकर व्यवहार के ही पास जाना होता है, उसका मार्गदर्शन करना होता है और इसी प्रक्रिया में अपना लगातार विकास करना होता है। यदि समाज के विषय में हमारा ज्ञान पलटकर समाज को बदलने में नहीं लगता तो वह ज्ञान अपनी जीवन्तता को खोकर समाप्त हो जायेगा क्योंकि वह अपने स्रोत से कट जायेगा। निश्चित तौर पर, सामाजिक व्यवहार के अनुभवों का अमूर्तन, सामान्यीकरण और समाहार कर वैज्ञानिक ज्ञान को विकसित कर व्यवहार का मार्गदर्शन किये बिना सामाजिक व्यवहार भी आदिम अवस्था में पड़ा रहेगा। और अगर ज्ञान व्यवहार की सेवा नहीं करता तो वह भी ख़त्म हो जायेगा। यही व्यवहार और ज्ञान की एकता है, यही अस्तित्व और विचारों की एकता है, और यही उनका द्वन्द्व भी है।

मज़दूर वर्ग के लिए व्यवहार और ज्ञान का यह सिद्धान्त समझना बहुत ज़रूरी है। केवल तभी वह समझ सकता है कि सही विचार न तो 'आसमान से टपक पड़ते हैं' और न ही वे 'प्रतिभावान विद्वानों के दिमाग़ की पैदावार' होते हैं। वे केवल और केवल सामाजिक व्यवहार के तीन रूपों से ही पैदा हो सकते हैं : उत्पादन के लिए संघर्ष, वर्ग संघर्ष और वैज्ञानिक प्रयोग। व्यवहार के ये रूप सामाजिक इसलिए हैं क्योंकि ये समाज के मेहनतकश वर्गों के सामूहिक प्रयासों के फलस्वरूप ही सम्भव हैं। इस रूप में व्यापक जनता का सामाजिक व्यवहार ही ज्ञान का स्रोत होता है। पूँजीवादी समाज में मेहनतकश जनता की जीवन स्थितियाँ ऐसी होती हैं कि स्वयं वह ही वैज्ञानिक ज्ञान यानी अवधारणात्मक ज्ञान से कट जाती है। ज्ञान मूलत: एक सामाजिक सम्पत्ति है, लेकिन हर चीज़ की तरह पूँजीवादी समाज में उसे भी निजी सम्पत्ति बना दिया जाता है। केवल समाज के क्रान्तिकारी रूपान्तरण, यानी समाजवादी समाज की स्थापना और मज़दूर सत्ता की स्थापना के ज़रिए भी ज्ञान वापस सामाजिक सम्पत्ति का स्वरूप ग्रहण करता है, हालाँकि वह पूँजीवादी समाज में भी अपने मूल से सामाजिक ही होता है। स्वयं इस क्रान्तिकारी रूपान्तरण के लिए मज़दूर वर्ग को मौजूदा समाज और राज-काज, उसके वर्ग चरित्र और अपनी शक्ति के बारे में ज्ञान हासिल करना होता है। ऐसा तभी हो सकता है जबकि मज़दूर वर्ग के उन्नत तत्व अपने आपको क्रान्तिकारी पार्टी के रूप में संगठित करें, क्योंकि यह पार्टी ही मज़दूर वर्ग के ज्ञान और संघर्ष का मुख्यालय हो सकती है, मज़दूर वर्ग के अनुभवों का अमूर्तन, सामान्यीकरण और समाहार कर उसके वैज्ञानिक ज्ञान को पैदा और व्यवस्थित कर सकती है और इस वैज्ञानिक ज्ञान के मार्गदर्शन में क्रान्ति के रास्ते पर मज़दूर वर्ग और मेहनतकश जनता के व्यापक जनसमुदायों की अगुवाई कर सकती है।

ये कुछ बुनियादी बातें थीं जिन्हें समझना हर मज़दूर और क्रान्तिकारी के लिए बेहद ज़रूरी है। अगले अंक में हम पूँजीवादी समाज के आर्थिक विश्लेषण की ओर आगे बढ़ेंगे और क़दम-दर-क़दम और परत-दर-परत इसकी सच्चाई को उजागर करेंगे।

'भारत छोड़ो आन्दोलन' : एक जनविद्रोह जो भारतीय पूँजीपति वर्ग के वर्चस्व से निकलकर क्रान्तिकारी दिशा में जा सकता था

(पेज 5 से आगे)

मामले में कम्युनिस्ट पार्टी पीछे छूट गयी। गाँधी ने इस पूरी परिस्थिति का फ़ायदा उठाया और 8 अगस्त 1942 को अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी के अधिवेशन में 'भारत छोड़ो आन्दोलन' का प्रस्ताव रखा जिसमें यह कहा गया कि अहिंसक रूप से जितना सम्भव हो उतने बड़े स्तर पर जन संघर्ष का आह्वान किया जायेगा। गाँधी ने यहीं अपने वक्तव्य में 'करो या मरो' का नारा दिया और यह भी कहा कि यदि आम हड़ताल करना आवश्यक होगा तो उससे भी पीछे नहीं हटेंगे। गाँधी पहली बार अपने राजनीतिक जीवन में राजनीतिक हड़ताल का समर्थन करने के लिए तैयार हुए थे और वह भी इसलिए क्योंकि कम्युनिस्ट पार्टी का उससे अलग रहना निश्चित था।

'अगस्त क्रान्ति' का विस्तार व स्वरूप

8 अगस्त 1942 को 'भारत छोड़ो आन्दोलन' का आह्वान किया गया। गाँधी ने 'करो या मरो' के नारे के साथ पूर्ण स्वतंत्रता की माँग उठायी। 9 अगस्त को सारे बड़े कांग्रेसी नेता गिरफ़्तार हो गये और उसके बाद एक व्यापक व स्वत:स्फूर्त जन आन्दोलन की शुरुआत हुई। आन्दोलन का नेतृत्व नये युवा एवं संघर्षशील लोगों के हाथ में आने के कारण नीचे के दबाव को उभरने का पूरा मौक़ा मिला। आन्दोलन के विस्तार में जाने से पहले यह जान लेना ज़रूरी है कि गाँधी के 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव में आन्दोलन की गतिविधियों के सम्बन्ध में पूरी कार्यदिशा को अस्पष्ट रखा गया ताकि आगे अंग्रेज़ों से बातचीत या समझौते का रास्ता बन्द ना हो। कार्यक्रम की रूपरेखा में मोटे तौर पर नमक सत्याग्रह, न्यायालय, स्कूल, और सरकारी नौकरी का बहिष्कार करने, विदेशी सामानों का बहिष्कार करने और अन्त में लगानों की नाअदायगी जैसे गाँधीवादी कार्यक्रम शामिल थे। मज़दूर हड़ताल भी आयोजित करने की बात की गयी थी और अहिंसात्मक होकर आन्दोलनों को विस्तार देने की बात की गयी थी। लेकिन आन्दोलन अपने पहले ही चरण में काफ़ी आगे बढ़ चुका था। शुरुआत में मुख्यत: शहरों में हड़तालें होने लगीं और सेना व पुलिस के साथ झड़पें होने लगीं। 9 से 14 अगस्त तक बम्बई में हड़तालें हुईं, उसके बाद कोलकाता और फिर दिल्ली में मिल मज़दूरों की हड़तालें और हिंसक झड़पें शुरू हो गयीं। पटना में 11 अगस्त को सचिवालय के सामने होने वाले विख्यात संघर्ष के बाद दो दिनों तक शहर में कोई क़ानून-व्यवस्था नहीं रही। अहमदाबाद की कपड़ा मिलों में तीन महीने तक हड़ताल चलती रही। शुरुआत में इस आन्दोलन में मज़दूरों, विद्यार्थियों व शहरी मध्य वर्ग का हिस्सा सक्रिय रहा। अगस्त के मध्य से विद्यार्थियों के ज़रिए आन्दोलन गाँव में फैलने लगा। जुझारू विद्यार्थी किसान विद्रोह का नेतृत्व करने लगे। बड़े स्तर पर संचार साधनों को नष्ट किया गया व पुलिस चौकी को नष्ट किया गया। उत्तरी और पश्चिमी बिहार और पूर्वी संयुक्त प्रान्त, बंगाल में मिदनापुर, महाराष्ट्र, कर्णाटक और उड़ीसा के कुछ हिस्से आन्दोलन के इस दूसरे चरण में सक्रिय रहे। इनमें से कई जगहों पर 'राष्ट्रीय सरकारों' की स्थापना की गयी लेकिन यह ज़्यादा दिन नहीं चल सकीं।

आन्दोलन का प्रचण्ड रूप धारण करने का कारण था भारी संख्या में किसानों का विद्रोह और यह मूलत: छोटे किसानों का विद्रोह था। ऊपर उल्लिखित चार राज्यों में जन-आन्दोलन की व्यापकता ज़्यादा थी। तीव्रता और विस्तार दोनों में ही बिहार आगे था। आन्दोलन को ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने कुचलकर रख दिया। भारी दमन का सामना करते हुए भी आन्दोलन लगभग छिटपुट रूप में अक्टूबर तक जारी रहा। आन्दोलन कितना शक्तिशाली व चुनौतीपूर्ण बन गया था, यह इस बात से पता लगाया जा सकता है कि अंग्रेज़ों ने किस क़दर आन्दोलन का दमन किया। सरकारी आँकड़ों के मुताबिक़ 1943 के अन्त तक 91,836 लोगों को गिरफ़्तार किया गया। आन्दोलनकारियों द्वारा 208 पुलिस चौकी, 332 रेलवे स्टेशन और 945 डाक घर नष्ट कर दिये गये थे। क़रीब 1000 लोग सेना व पुलिस की गोलियों से शहीद हुए! बिहार, बंगाल व उड़ीसा में तो आन्दोलन का दमन करने के लिए वायुयानों का प्रयोग किया गया। इस आन्दोलन की चन्द घटनाओं के ब्यौरे से इसके विस्तार और शक्ति का अहसास किया जा सकता है।

इस आन्दोलन में निश्चित रूप से एक क्रान्तिकारी सम्भावना-सम्पन्नता थी लेकिन वह कोई निश्चित स्वरूप नहीं ले सकी जिसके लिए ज़िम्मेदार भारत की कम्युनिस्ट पार्टी की विचारधारात्मक कमज़ोरी थी! कांग्रेस ने गाँधी के नेतृत्व में आन्दोलन को पूँजीवादी फ्रेमवर्क में सहयोजित करने की पूरी कोशिश की और अन्तत: काफ़ी प्रयासों के बाद वह उस कोशिश में कामयाब भी रही।

यहाँ एक बात साफ़ थी कि कांग्रेस अन्त तक बातचीत व समझौते का रास्ता खुला रखे हुए थी क्योंकि भारतीय पूँजीपति वर्ग साम्राज्यवाद से निर्णायक विच्छेद करने की कूव्वत नहीं रखता था, वह अपने लिए राजनीतिक स्वतंत्रता चाहता था और साम्राज्यवाद पर आर्थिक निर्भरता को क्रमिक प्रक्रिया में न्यूनातिन्यून करना चाहता था। इसलिए ही कांग्रेस ने बिना किसी निश्चित कार्यदिशा के या देश स्तर पर बिना कोई योजना के 'भारत छोड़ो आन्दोलन' की घोषणा कर दी। कांग्रेसी नेताओं को पता था कि उनकी गिरफ़्तारी आसन्न थी और इसलिए ही उनमें से ज़्यादातर 8 अगस्त से पहले ही अपने व्यक्तिगत पारिवारिक मामले और वित्त का निपटारा कर चुके थे! वैसे गाँधी ने अपने वक्तव्य में अहिंसात्मक तरीक़ों को ही अपनाने की बात कही थी लेकिन अगस्त क्रान्ति के पूरे घटनाक्रम के हिंसात्मक रवैये पर उन्होंने कुछ नहीं कहा क्योंकि अपनी राजनीतिक आज़ादी के लिए उस वक़्त भारत के पूँजीपति वर्ग को ऐसे जन संघर्षों की आवश्यकता थी। यहाँ ब्रिटिश सरकार द्वारा सीधे कांग्रेस पर हिंसा करने का आरोप नहीं लगाया जा सकता था। कांग्रेस ने बहुत चालाकी से बातचीत और समझौते का रास्ता भी खुला रखा और दूसरी तरफ़ 'भारत छोड़ो आन्दोलन' की शुरुआत कर आम जन के बीच फिर से अपना नेतृत्व स्थापित किया। (जोकि कुछ हद तक 1937 के कांग्रेस मंत्रिमण्डलों के काल में खो चुका था)। डी.डी.कोसाम्बी ने भी अपने लेख 'दी बुर्जुआ कॉमंस ऑफ़ एन ऐज इन इण्डिया' में लिखा है कि "जेल और यंत्रणा-शिविरों की चमक-दमक कांग्रेसी मंत्रिमण्डलों की कारगुज़ारी से ध्यान हटाने में सहायक हुई और इस प्रकार कांग्रेस जन सामान्य के बीच पुनः लोकप्रियता प्राप्त कर सकी।"

इतने बड़े स्तर पर जन आन्दोलन का विस्तार और इसका क्रान्तिकारी स्वरूप देख व विश्व युद्ध में अपनी परिस्थिति देख ब्रिटिश साम्राज्यवादियों को भारत के पूँजीपति वर्ग की प्रातिनिधिक पार्टी कांग्रेस को सत्ता हस्तान्तरित करके जाना ज़्यादा ठीक लगा बनिस्पत इसके कि वह किसी जन विद्रोह द्वारा उखाड़ फेंकी जाती। इस आन्दोलन का नेतृत्व समझौतापरस्त कांग्रेस के हाथों में ही रहा और यह किसी जन क्रान्ति की तरफ़ नहीं बढ़ सका लेकिन 'भारत छोड़ो आन्दोलन' देश की जनता की क्रान्तिकारी विरासत का एक अहम हिस्सा है। यह ऐसा आन्दोलन था जिसने ब्रिटिश सरकार की चूलें हिला दी थीं। यह वह आन्दोलन था जिसने विश्व पैमाने पर कमज़ोर हो चुकी ब्रिटिश साम्राज्यवादी ताक़त पर दबाव बनाया जिससे कि आगे की आज़ादी का रास्ता प्रशस्त हुआ। इसी आन्दोलन के बूते कांग्रेस वह समझौता कर सकी जिसकी परिणति 15 अगस्त 1947 की खण्डित-विकलांग आज़ादी थी।

जनवादी व नागरिक अधिकारों के लिए जुझारू जनान्दोलन खड़ा करो!

(पेज 1 से आगे)

वर्गों का एक अन्धा प्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन भी है। नतीजतन, इनफ़ोर्समेण्ट डाइरेक्टोरेड (ईडी), सीबीआई आदि के छापों के ज़रिए विपक्षी पार्टियों के नेताओं आदि पर मुक़दमे डाले जा रहे हैं और उनमें से कई जेलों में भी डाले गये हैं और जनता में इसके पक्ष में राय बनाने में भी मोदी सरकार फ़िलहाल कमोबेश कामयाब ही हो रही है। यह दीगर बात है कि ये नेता वाक़ई भ्रष्ट हैं और इसलिए मोदी सरकार को यह मौक़ा भी मिल रहा है कि सरकारी जाँच एजेंसियों का इस्तेमाल करके इनके कान उमेठे जायें और इन्हें 'सीधा' कर दिया जाये। लेकिन यह भी ग़ौरतलब है कि भाजपा के नेताओं द्वारा भ्रष्टाचार के कीर्तिमानों के स्थापित किये जाने पर ईडी की निगाह कभी नहीं जाती है! इस समय सबसे ज़्यादा भ्रष्टाचारी अगर किसी पार्टी में हैं, तो वह भाजपा है।

बहरहाल, जो भाजपा द्वारा पैसे के बल पर ख़रीदा नहीं जा पाता, उन्हें सीधा करने के लिए जाँच एजेंसियों का इस्तेमाल होता है। और अगर कोई भाजपा के हाथों बिकने को तैयार हो जाता है तो वह अचानक भ्रष्टाचारी से परम सदाचारी बन जाता है! किसी राज्य में यदि भाजपा चुनाव हार भी जाये, तो पूँजी की शक्ति के बूते वह खुलेआम विधायकों की ख़रीद-फ़रोख़्त करके जीतने वाले विपक्षी दल की सरकार को गिरा देती है। मध्यप्रदेश, गोवा, कर्नाटक और हाल ही में महाराष्ट्र जैसे कई राज्यों में हम इसकी बानगी देख चुके हैं। पूँजीवादी विपक्षी दलों से कोई उम्मीद करना बेकार है। न तो उनमें सड़कों पर उतरने की ताक़त बची है और न ही इच्छाशक्ति। भाजपा के पास पूँजी की अकूत शक्ति है क्योंकि उसके पास पूँजीपति वर्ग का अभूतपूर्व समर्थन है और साथ ही उसके पास एक काडर-आधारित सांगठनिक ढाँचा है। ऊपर से इस समय केन्द्र में और अधिकांश राज्यों में साम-दाम-दण्ड-भेद से बनायी गयी उसकी सरकारें भी हैं। इसके अलावा, न्यायपालिका से लेकर सशस्त्र बलों और नौकरशाही में संघी घुसपैठ भी भाजपा की राह आसान करती है। पूँजीवादी विपक्ष भाजपा की मोदी सरकार के समक्ष कोई अर्थपूर्ण प्रतिरोध खड़ा कर पायेगा, इसकी गुंजाइश लगभग नहीं के बराबर है।

ऐसे में, भाजपा की मोदी सरकार के लिए उस एजेण्डा पर अमल करना अपेक्षाकृत सुगम हो गया है, जिसके लिए भारत के पूँजीपति वर्ग ने दो-दो बार अपनी पूँजी की शक्ति के बूते उसे सत्ता में पहुँचाया है। यह एजेण्डा है पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की मन्दी के दौर में मज़दूर वर्ग के शोषण के रास्ते में खड़ी सभी बाधाओं को हटाना ताकि मुनाफ़े की दर को बढ़ाया जा सके व औसत मज़दूरी को घटाया जा सके, पूँजीपतियों को प्राकृतिक संसाधनों की लूट की खुली छूट देना और जनता की गाढ़ी कमाई के बूते खड़ी सार्वजनिक सम्पत्तियों को औने-पौने दामों पर अम्बानियों, अडानियों, टाटाओं, बिड़लाओं को सौंपना, जनता के कल्याण पर होने वाले सामाजिक ख़र्च को घटाकर पूँजीपतियों को तमाम सौग़ातें देना ताकि मुनाफ़े की गिरती औसत दर से बिलबिलाते पूँजीपति वर्ग को राहत दी जा सके। ज़ाहिरा तौर पर, ये काम करने के लिए आज पूँजीपति वर्ग के लिए भाजपा ही सबसे उपयुक्त पार्टी है क्योंकि वह एक फ़ासीवादी पार्टी है। वह मज़दूर वर्ग की सबसे बड़ी दुश्मन है जो 'मज़बूत नेता', "राष्ट्रवाद", धर्म आदि के नाम पर देश के टुटपुँजिया वर्गों के प्रतिक्रियावादी आन्दोलन को खड़ा करके देश की व्यापक मेहनतकश जनता का तानाशाहाना दमन करने की इच्छाशक्ति और निर्णायकता रखती है। ये वे गुण हैं जो भाजपा को अन्य पूँजीवादी पार्टियों से अलग करते हैं।

कहने की आवश्यकता नहीं है कि अपने इन नापाक मंसूबों में कामयाब होने के लिए भाजपा की मोदी सरकार के लिए यह अनिवार्य है कि वह मेहनतकश जनता और मज़दूर वर्ग के अधिकारों के पक्ष में खड़ी होने वाली हर आवाज़ को एक के बाद एक शान्त कर दे। इसीलिए तमाम जनवादी व नागरिक अधिकार संगठनों के कार्यकर्ताओं, पत्रकारों, कलाकारों आदि पर हमले किये जा रहे हैं, उनपर फ़र्ज़ी मुक़दमे डालकर उन्हें जेलों में डाला जा रहा है। इनमें से अधिकांश लोग प्रगतिशील व जनपक्षधर मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी हैं। इन आवाज़ों का दमन करने के पीछे भाजपा की मोदी सरकार का असली निशाना स्वयं मज़दूर वर्ग और मेहनतकश आबादी है। फ़ासीवादी मोदी सरकार को यह लगता है कि जब एक बार मज़दूरों व आम जनता के जनवादी व नागरिक अधिकारों के पक्ष में आवाज़ उठाने वाली ताक़तों को शान्त कर दिया जायेगा, तो मज़दूरों और मेहनतकशों के अधिकारों के हनन का काम और भी आसान हो जायेगा। हर तानाशाह को ऐसा ही लगता है, हालाँकि इतिहास उसकी इस ग़लतफ़हमी को दूर कर देता है।

जनवादी और नागरिक अधिकारों के पक्ष में आवाज़ उठाने वाले तमाम राजनीतिक कार्यकर्ताओं, बुद्धिजीवियों, पत्रकारों, कलाकारों आदि की आवाज़ों को आतंकित करके चुप करा देने से जनवादी व नागरिक अधिकारों का संघर्ष ख़त्म नहीं हो जायेगा। जहाँ दमन होता है, वहाँ प्रतिरोध होता ही है। यह समाज का नियम है। कुछ आवाज़ें दबायी जायेंगी तो नयी आवाज़ें खड़ी हो जायेंगी। इतिहास में हमेशा ऐसा ही होता आया है।

लेकिन हमें यह भी समझना होगा कि जब तक जनवादी व नागरिक अधिकारों का आन्दोलन मध्यवर्गीय दायरों से आगे जाकर एक क्रान्तिकारी जनान्दोलन में तब्दील नहीं होता, तब तक उसे आगे भी नहीं बढ़ाया जा सकता है। अन्ततः सत्ता उसे कमज़ोर करने में कामयाब ही होगी। निश्चित तौर पर, इक्की-दुक्की आवाज़ें अलग-अलग कोनों से उठती रहेंगी और उन्हें दमनकारी से दमनकारी सत्ता भी कभी पूरी तरह से दबा नहीं सकती है। लेकिन यह भी सच है कि व्यापक जनाधार वाला एक जनवादी-नागरिक अधिकार आन्दोलन खड़ा नहीं होगा, तो वह कमज़ोर और निष्प्रभावी होता जायेगा। ऐसे में, यह समझना ज़रूरी है कि जनवादी और नागरिक अधिकारों की हिफ़ाज़त के बारे में मज़दूर वर्ग का नज़रिया क्या हो। आख़िर हम मज़दूरों को इस बात से फ़र्क़ क्यों पड़ना चाहिए कि हिमांशु कुमार को जेल में डालने की तैयारियाँ चल रही हैं, या मुहम्मद ज़ुबैर को गिरफ़्तार कर लिया गया, तीस्ता सेतलवाड़ को जेल में डाल दिया गया?

सर्वहारा वर्ग के महान शिक्षक लेनिन ने बताया है कि जनवाद पर ही रुक जाना मज़दूर वर्ग का काम नहीं है और वह कभी भी पूँजीवादी जनवाद के बारे में कोई ख़ामख़याली नहीं पालता है। वह जानता है कि पूँजीवादी जनवाद पूँजीवादी तानाशाही का ही दूसरा पहलू है। पूँजीवादी समाज में जैसे-जैसे आप ऊपर से नीचे की ओर, यानी पूँजीपति वर्ग से होते हुए मध्यवर्ग और निम्न मध्यवर्ग और फिर अन्ततः सर्वहारा वर्ग और अर्द्धसर्वहारा वर्ग तक पहुँचते हैं, वैसे-वैसे जनवादी अधिकारों की मात्रा भी घटती जाती है। काग़ज़ों पर बेशक यह लिखा हो सकता है कि सभी नागरिकों के समान क़ानूनी जनवादी अधिकार हैं, क़ानून के समक्ष सभी बराबर हैं, वग़ैरह, लेकिन हर मज़दूर अपने जीवन के अनुभव से जानता है कि इन काग़ज़ी दावों और असलियत में बंगाल की खाड़ी जितना बड़ा अन्तर होता है। एक ठेका मज़दूर, एक रिक्शेवाले, एक घरेलू कामगार, एक पटरीवाले-रेहड़ीवाले के लिए क्या जनवादी अधिकार है? किसी थाने का दारोग़ा या सिपाही उसे थप्पड़ मार सकता है, खड़े-खड़े उसकी इज़्ज़त उतार सकता है। किस क़ानून के अनुसार यह जायज़ होता है? और ये ही दारोग़ा और सिपाही अमीरज़ादों की लम्बी गाड़ियों के सामने सलाम ठोंकते और लम्ब-लेट होते हुए नज़र आते हैं। जब कोई ग़रीब मेहनतकश आदमी जब किसी तथाकथित जनप्रतिनिधि यानी सांसद, विधायक या पार्षद के पास कोई माँग या शिकायत लेकर जाता है, तो उसके साथ क्या होता है? अब इसकी तुलना किसी धनपशु द्वारा की जाने वाली फ़रमाइश से कीजिए! इसे पूरा करने के लिए सांसद, विधायक और पार्षद इनके दरवाज़ों पर पहुँच जाते हैं और न्यायपालिका तक रात के बारह बजे बैठ जाती है! इसलिए हम मज़दूर-मेहनतकश जानते हैं कि पूँजीवादी लोकतंत्र या जनवाद का हमारे लिए क्या और कितना अर्थ है। हमें केवल उतने ही जनवादी अधिकार मिलते हैं जितना कि पूँजीपतियों के बीच बाज़ारू प्रतिस्पर्द्धा को सुनिश्चित करने के लिए आवश्यक होता है, जैसे कि आम तौर पर कोई पूँजीपति हमें बंधुआ या ग़ुलाम नहीं बना सकता, और साथ ही जितने अधिकार पूँजीवादी जनवाद के फटे-चुटे मुखौटे को मुश्किल से पूँजीवाद के चेहरे पर टाँगे रखने के लिए ज़रूरी होते हैं। इसके अलावा, हम अपने जीवन से पूँजीवादी तानाशाही की असलियत को जानते हैं। हमें बेहद सीमित जनवादी अधिकार हासिल होते हैं और उन्हें भी हम तभी लड़कर जीत सकते हैं जब हम संगठित हों, एकजुट हों और जुझारू तरीक़े से लड़ने के लिए तैयार हों।

लेकिन इसके बावजूद हम मज़दूर-मेहनतकश क्या चुनावों व वोट देने के अधिकार को भंग कर देने की वकालत करेंगे? क्या हम सीमित जनवादी अधिकारों को भी छीन लिये जाने का समर्थन करेंगे? क्या हम संसद-विधानसभाओं को भंग कर दिये जाने और आपातकाल जैसी स्थिति थोप दिये जाने का समर्थन करेंगे, जिसमें एकत्र होने, संगठन बनाने, प्रदर्शन करने आदि के अधिकार को औपचारिक तौर पर समाप्त कर दिया जाये? नहीं! क्यों? लेनिन ने ही हमें सिखाया है कि ऐसा इसलिए है क्योंकि सर्वहारा वर्ग द्वारा पूँजीपति वर्ग के विरुद्ध अपने वर्ग संघर्ष को विकसित करने और संचालित करने की सबसे अनुकूल ज़मीन पूँजीवादी जनवाद है। ज़ाहिर है कि किसी कुलीन निरंकुश सत्ता, या फिर किसी खुली पूँजीवादी तानाशाही के मुक़ाबले पूँजीवादी जनवाद द्वारा दिये जाने वाले जनवादी स्पेस का इस्तेमाल कर सर्वहारा वर्ग अपने राजनीतिक संघर्ष को अधिक विकसित कर सकता है। निश्चित तौर पर, ये सीमित जनवादी अधिकार अपने आप में सर्वहारा वर्ग का लक्ष्य नहीं होते और न ही वह इसके प्रति कोई अन्धपूजक भाव रखता है। ऐसा करना पूँजीवादी जनवादी विभ्रम और ग़लतफ़हमी को पालना होगा। लेकिन यह कहना कि चूँकि पूँजीवादी जनवाद सर्वहारा वर्ग को सीमित अधिकार ही देता है इसलिए हमें निरंकुश सत्ता या खुली तानाशाही की ओर लौट जाना चाहिए या सामन्तवाद की ओर लौट जाना चाहिए, या फिर यह कहता है कि इससे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता कि पूँजीवादी जनवाद है या मूलतः फ़ासीवादी तानाशाही स्थापित हो गयी है, वह "वामपन्थी" बचकानेपन के सबसे मूर्खतापूर्ण संस्करण का शिकार है। ज़ाहिर है कि अगर हमें यूनियन बनाने, एकत्र होने, अपने संगठन बनाने का औपचारिक अधिकार भी हासिल है, तो वह हमारे लिए उपयोगी है, भले ही इन अधिकारों पर अमल के लिए हमें संघर्ष ही क्यों न करना पड़े।

ये जनवादी अधिकार पूँजीवादी व्यवस्था के व्यापक जनता से किये गये वायदे हैं, जिन्हें पूरा करने की क्षमता वह अपने अधिक से अधिक मरणासन्न, परजीवी और प्रतिक्रियावादी होने के साथ खोती जाती है। लेकिन ठीक इसीलिए इन अधिकारों पर ज़िद के साथ ज़ोर देना और उन्हें हासिल करने के लिए संघर्ष करना पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तरविरोधों को और भी ज़्यादा बढ़ाता है और उसे असम्भाव्यता के बिन्दु पर पहुँचाता है। साथ ही, ये सीमित जनवादी अधिकार सर्वहारा वर्ग को जनता के वर्गों में अपने क्रान्तिकारी प्रचार और उद्वेलन को संगठित करने का किसी निरंकुश सत्ता, सैन्य या फ़ासीवादी तानाशाही के मुक़ाबले ज़्यादा स्पेस देते हैं।

निश्चित तौर पर, यदि इस स्पेस के प्रति कोई सर्वहारा क्रान्तिकारी ज़्यादा ही मोहित हो गया या उसके गुणगान करने लगा, तो उसे अपना क्रान्तिकारी चरित्र खोते और माकपा, भाकपा और भाकपा (माले) जैसे घृणित संशोधनवादी में तब्दील होते और "संविधान बचाओ" का नारा उठाते ज़्यादा वक़्त नहीं लगेगा। उनमें और राजनीतिक व विचारधारात्मक रूप से विकसित सर्वहारा क्रान्तिकारी में यह अन्तर होता है कि वह सीमित पूँजीवादी जनवादी अधिकारों का इस्तेमाल करते हुए भी उसके प्रति कोई अनालोचनात्मक नज़रिया नहीं रखता, उसकी असलियत को भी जनता के सामने लगातार उजागर करता है, उसकी सीमाओं को बेनक़ाब करता है और व्यापक मेहनतकश जनता को शिक्षित करता है कि पूँजीवादी जनवाद हमारा लक्ष्य नहीं है और हमें इससे आगे बढ़ते हुए समाजवाद, मज़दूर राज, सर्वहारा जनवाद और सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व तक जाना होगा, जो कि अमीरों के लिए जनवाद और व्यापक मेहनतकश जनता के लिए सीमित और खण्डित जनवाद नहीं होगा बल्कि व्यापक मेहनतकश जनता के लिए अधिकतम जनवाद और शोषक वर्गों पर सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व होगा। लेकिन वह यह जानता है कि ठीक इन्हीं कार्यभारों को पूरा करने के लिए उसके लिए सबसे उपयुक्त वातावरण पूँजीवादी जनवाद है न कि किसी प्रकार की निरंकुश सत्ता, सैन्य

(पेज 12 पर जारी)

जनवादी व नागरिक अधिकारों के लिए जुझारू जनान्दोलन खड़ा करो!

(पेज 11 से आगे)

हुन्ता या फ़ासीवादी तानाशाही (भले ही ऐसी तानाशाही ने पूँजीवादी जनवाद का खोल क़ायम रखा हो)। और ठीक इसीलिए वह जनवादी अधिकारों के लिए संघर्ष की हिमायत करता है, जनवादी स्पेस को बढ़ाने के लिए संघर्ष करता है, उसके लिए जनता के व्यापक जनसमुदायों को जागृत, गोलबन्द और संगठित करता है।

इसलिए पूँजीवादी जनवाद के बारे में कोई विभ्रम पाले बग़ैर क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग जनवादी व नागरिक अधिकारों की अहमियत को समझता है, अपने वर्ग संघर्ष को आगे ले जाने के लिए उपयुक्त ज़मीन के रूप में उसकी ज़रूरत और महत्व को समझता है।

आज जबकि मोदी सरकार ने देश में एक अघोषित आपातकाल थोप दिया है, जनवादी व नागरिक अधिकारों के लिए उठने वाली हर आवाज़ को एक-एक करके दबाया जा रहा है और पूँजीवादी विपक्ष तक को नहीं बख़्शा जा रहा है, तो मोदी सरकार के इरादे साफ़ हैं। साथ ही यह भी साफ़ है कि मध्यवर्गीय दायरों में क़ैद रहते हुए जनवादी-नागरिक अधिकार आन्दोलन एक धीमी मौत मरने के लिए अभिशप्त है। इसका यह अर्थ क़तई नहीं है कि ऐसे तमाम प्रगतिशील मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी व कार्यकर्ता नहीं हैं, जो बिना डरे मोदी सरकार के दमन और तानाशाहाना रवैये के विरुद्ध संघर्ष कर रहे हैं और डटे हुए हैं। लेकिन अगर जनवादी व नागरिक अधिकारों के लिए संघर्ष की ख़ातिर एक व्यापक जनाधार रखने वाला क्रान्तिकारी जनान्दोलन नहीं खड़ा होगा तो ऐसे प्रगतिशील बुद्धिजीवियों व कार्यकर्ताओं की व्यक्तिगत वीरता और साहस बहुत काम नहीं आयेगा। मोदी सरकार द्वारा जनता के जनवादी अधिकारों पर होने वाले हमलों के विरुद्ध आज एक जुझारू जनवादी व नागरिक अधिकार आन्दोलन खड़ा करने की ज़रूरत है, जिसका मेहनतकश जनता में व्यापक आधार हो।

जनवादी और नागरिक अधिकारों की हिफ़ाज़त के लिए एक जुझारू जनान्दोलन खड़ा करने का काम आज मज़दूर वर्ग अपने नेतृत्व में ही कर सकता है। निश्चित तौर पर, इसमें ऐसे प्रगतिशील बुद्धिजीवियों की भी महती भूमिका होगी जो कि निडरता के साथ फ़ासीवादी सत्ता का मुक़ाबला करने को तैयार हों। हालिया वर्षों में यह देखने में आया है कि अधिकांश प्रगतिशील जनवादी अधिकार संगठन अधिक से अधिक कमज़ोर और निष्क्रिय होते गये हैं। वजह यह है कि उनके प्रमुख नेतृत्वकारी सदस्यों को ही सलाख़ों के पीछे डाल दिया गया है या उन्हें न्यायपालिका व प्रशासन के ज़रिए लगातार सताया जा रहा है। कुछ स्वयंसेवी संगठन जो कि देशी-विदेशी फ़ण्डिंग एजेंसियों से पैसा लेते थे और मानवाधिकारों आदि के बारे में भी कुछ सक्रिय रहते थे, उनकी फ़ण्डिंग के स्रोतों से उन्हें काट दिया गया है और एनजीओ जैसी सुधारवादी संस्थाएँ इस प्रकार के हमले के समक्ष कुछ नहीं कर सकती हैं। वैसे भी ऐसे एनजीओ संगठनों का काम वास्तव में कोई बुनियादी परिवर्तन करना नहीं होता है, बल्कि पूँजीवादी व्यवस्था की ही हिफ़ाज़त करना होता है। लेकिन फ़ासीवादी सत्ता के लिए तात्कालिक तौर पर वे भी कुछ असुविधा पैदा कर रहे हैं। व्यवस्था के इन आपसी अन्तरविरोधों के कारण ऐसे एनजीओ भी मोदी सरकार के निशाने पर आ रहे हैं। लुब्बेलुबाब यह कि एक ऐसा जनवादी अधिकार आन्दोलन व ऐसे जनवादी अधिकार संगठन जिनका व्यापक मेहनतकश जनता में कोई आधार न हो, भले ही वे कितने ही प्रगतिशील बुद्धिजीवियों व कार्यकर्ताओं द्वारा चलाये जाते हों, फ़ासीवादी मोदी सरकार के हमलों के समक्ष टिक नहीं सकते हैं। उनका मुक़ाबला करने के लिए सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में एक जुझारू जनान्दोलन की आवश्यकता है, जो कि व्यापक मेहनतकश जनता में मज़बूत आधार रखता हो।

ऐसे आन्दोलन के निर्माण के लिए सबसे पहले मज़दूर वर्ग के उन्नत तत्वों को स्वयं यह समझना होगा कि जनवादी अधिकारों के प्रति हमारा नज़रिया क्या है और हमें क्यों जनवादी अधिकारों की हिफ़ाज़त के लिए संघर्ष को नज़रन्दाज़ नहीं करना चाहिए। दूसरा, हमें व्यापक मेहनतकश जनता के बीच, जिसमें कि मध्य मध्यवर्ग व निम्न मध्यवर्ग भी शामिल हैं, इस बात का सघन और व्यापक प्रचार करना होगा कि जनवादी व नागरिक अधिकारों के प्रति तटस्थता रखना आत्मघाती है। हमारा इस बात से सीधा सरोकार बनता है कि हिमांशु कुमार, मुहम्मद ज़ुबैर, रूपेश कुमार, तीस्ता सेतलवाड़ आदि जैसे लोगों को फ़ासीवादी सत्ता विविध रूपों में सता रही है, प्रताड़ित कर रही है। जब हम फ़ासीवादी सत्ता द्वारा दमन के इन क़दमों पर चुप रहते हैं, तो एक प्रकार से हम उसे मौन समर्थन देते हैं, फ़ासीवादी सत्ता के "दमन के अधिकार" की हिमायत करते हैं और उसे वैधीकरण प्रदान करते हैं। यही दमन का चक्का कल मज़दूर आन्दोलन पर, छात्रों-युवाओं पर, स्त्रियों पर, दलितों पर, ग़रीब किसानों पर भी चलेगा। सर्वहारा वर्ग एक राजनीतिक वर्ग यानी पूँजीपति वर्ग की सत्ता का ध्वंस कर अपनी सत्ता को स्थापित करने का लक्ष्य रखने वाला वर्ग तभी बन सकता है, जब वह हर जगह और कहीं भी होने वाले दमन-उत्पीड़न के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाये। यह इस बात की कसौटी है कि वह महज़ अपने विशिष्ट आर्थिक हितों व अधिकारों लिए नहीं, बल्कि अपने आम राजनीतिक हितों के अनुसार अपने संघर्ष की रणनीति व आम रणकौशल तय करता है। केवल तभी वह व्यापक मेहनतकश जनता का अगुवा बन सकता है और पूँजीपति वर्ग के वर्चस्व और उसकी सत्ता को चुनौती दे सकता है। इसलिए यह ज़रूरी है कि फ़ासीवादी मोदी सरकार जनता के जनवादी अधिकारों का कहीं भी दमन करे, तो हम मज़दूर अपने संगठनों के ज़रिए उसके ख़िलाफ़ सड़कों पर उतरें। इसी से तीसरा कार्यभार निकलता है जो कि यह है कि हम ऐसे जुझारू जनवादी अधिकार संगठनों को खड़ा करें, जो व्यापक मेहनतकश जनता के बीच गाँव-गाँव, शहर-शहर, गली-गली, बस्ती-बस्ती सघन प्रचार अभियान चलायें और जनवादी अधिकारों की हिफ़ाज़त के लिए एक जनान्दोलन को खड़ा करने की ज़रूरत पर एक आम राय का निर्माण करे।

संघर्ष के तमाम मोर्चों पर अगुवा भूमिका अपने हाथों में लेने के साथ सर्वहारा वर्ग को आज जनवादी व नागरिक अधिकार आन्दोलन में भी अगुवा भूमिका लेनी होगी। यह न सिर्फ़ सर्वहारा वर्ग के लिए अपरिहार्य है, बल्कि यह जनवादी व नागरिक अधिकार आन्दोलन के अस्तित्व के लिए भी अनिवार्य है।

"राष्ट्रवाद" की ठेकेदार बनी भाजपा और आरएसएस के आतंकवादियों से सम्बन्धों की पड़ताल!

– वृषाली

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और इसके तमाम अनुषंगी संगठन अपने जन्मकाल से ही "राष्ट्रवाद" के नाम पर जनता को बरगलाने में लगे रहे हैं। वर्ष 2014 में सत्ता में क़ाबिज़ होने के बाद भाजपा और संघ परिवार ने "देशभक्ति" और "राष्ट्रवाद" की अतिरिक्त ठेकेदारी ले ली है। आज़ादी के आन्दोलन में क्रान्तिकारियों की मुख़बिरी और स्वतंत्रता व राष्ट्रीय आन्दोलन से ग़द्दारी करने वाला संघ परिवार अब धड़ल्ले से देशभक्ति के सर्टिफ़िकेट बाँट रहा है। संघ परिवार के "राष्ट्रवाद" और इनके राजनीतिक पूर्वजों की "देशभक्ति" के इतिहास पर ग़ौर किया जाये तो हक़ीक़त को समझने में देर नहीं लगेगी। क्या कारण था कि जब भगतसिंह और उनके साथी बहादुरी के साथ लड़ते हुए शहादत तक को तैयार थे तब हिन्दू महासभा के "वीर" सावरकर अण्डमान जेल से अंग्रेज़ सरकार के नाम माफ़ीनामे लिख रहे थे? क्या आप जानते हैं कि आर.एस.एस. ने भगतसिंह की शहादत को 'बेकार की क़ुर्बानी' बताया था? क्या आप जानते हैं कि आर.एस.एस. के नेता देवरस आपातकाल के दौरान इन्दिरा गाँधी से माफ़ी माँगकर माफ़ीनामे लिखने के रिवाज़ को आगे बढ़ा रहे थे? क्या आपको याद है सेना और देश के नाम पर वोट माँगने वाली भाजपा के अध्यक्ष बंगारू लक्ष्मण रक्षा सौदे में दलाली करते पकड़े गये थे? इतने पुराने इतिहास में क्यों जाना, नोटबन्दी के दौरान बैंकों की क़तारों में खड़ी जनता को सेना का हवाला देकर मनोज तिवारी द्वारा लोगों का मज़ाक़ उड़ाये जाने को ही याद कर लीजिए। जिनका "राष्ट्रवाद" चीन के ख़िलाफ़ उमड़ता है, क्या आपको पता है उनके झण्डे और चीन-विरोधी टोपियों का आयात भी चीन से ही होता है? यह तो महज़ संघ परिवार की मेहनतकश जनता को देशभक्ति के नाम पर बेवक़ूफ़ बनाने की दास्ताँ है। संघ परिवार के आतंकवादियों से जुड़ाव की ख़बरें इसपर चार चाँद लगाने का काम करती हैं!

आतंकी गतिविधियों और भाजपाइयों का है नाता पुराना

2019 में मालेगाँव बम धमाके की आरोपी प्रज्ञा ठाकुर के चुनावी प्रचार में भाजपा नेता राकेश सिंह ने बयान दिया था कि "भगवा कभी आतंकवादी नहीं होता, भगवाधारण करने वाला कभी आतंकवादी नहीं होता, आतंकवाद तो त्याग, तपस्या और बलिदान का प्रतीक होता है।" बिल्कुल दुरुस्त फ़रमाया! भाजपा और संघ परिवार के इस "त्याग, तपस्या और बलिदान" के सैंकड़ों उदाहरण मौजूद हैं। संघ परिवार ने जन्म से ही इस युक्ति का पालन किया है। धर्म और संस्कृति की दुहाई देते हुए साम्प्रदायिक हिंसा को बढ़ावा देने का काम तो आज़ादी के पहले से ही शुरू हो चुका था। रोज़ी-रोटी, शिक्षा-स्वास्थ्य, महँगाई के सवाल पर मज़दूर-ग़रीब किसान, छात्र मेहनतकश अपने हक़-हुक़ूक़ की बात न सोचें, इसके लिए देश में धार्मिक उन्माद का माहौल बनाना जारी है। 2002 में गुजरात दंगों में हुए नरसंहार की बात करें या कन्धमाल, उड़ीसा के घटनाक्रम का उदाहरण देखें। संघ परिवार के आतंकवादी गतिविधियों में शामिल होने के चन्द उदाहरण ही इनके राष्ट्रवाद के चोले को उतार फेंकने के लिए काफ़ी हैं। चन्द प्रतिनिधिक उदाहरण निम्न हैं:- 2004 में महाराष्ट्र के पूर्णा जलाना में हुए मस्जिदों में बम धमाके के तार संघ परिवार से जुड़े थे। 2006 में नान्देड़ में व 2008 में कानपुर में बजरंग दल के चार सदस्यों की बम बनाते हुए धमाके में मौत हो गयी थी। 2007 में 'समझौता एक्सप्रेस', अजमेर शरीफ़ व हैदराबाद में मक्का मस्जिद विस्फोटों की ज़िम्मेदार आर.एस.एस. के कार्यकर्ता पाये गये थे। 2008 में ठाणे के गडकरी रंगायन थिएटर में बमबारी के लिए हिन्दू जनजागृति समिति के सदस्य गिरफ़्तार किये गये थे। वहीं उसी वर्ष मालेगाँव में हुए विस्फोट की आरोपी साध्वी प्रज्ञा 2019 में भाजपा का चुनावी चेहरा बनकर उभरी थी। 'कारवाँ' पत्रिका को दिये एक साक्षात्कार में स्वामी असीमानन्द ने 2006 से 2008 तक हुए जानलेवा विस्फोटों के पीछे आर.एस.एस. के हाथ की पुष्टि की थी। 2017 में भाजपा के निर्वाचित सदस्य व नेता निरंजन होजाई को आतंकियों की आर्थिक मदद देने के लिए उम्रक़ैद की सज़ा सुनायी गयी थी। असम राज्य के भाजपा प्रवक्ता ने उस दौरान यह बयान भी दिया था कि पार्टी निरंजन होजाई को इस सज़ा से मुक्त कराने के लिए कोशिश में जुटी हुई है। उसी वर्ष भाजपा आईटी सेल के ध्रुव सक्सेना के आईएसआई से सम्बन्ध के ख़ुलासे की ख़बर भी सामने आयी थी। 2018 में त्रिपुरा के चुनाव में भाजपा ने जिस आईपीएफ़टी के साथ सरकार बनायी उसका अलगाववादी-आतंकवादी चरित्र इस "पवित्र" गठबन्धन से निष्कलंक हो गया था। 2020 में एनआईए ने भाजपा उम्मीदवार और पूर्व सरपंच को हिज़्बुल मुजाहिद्दीन व डीएसपी देविन्दर के साथ सम्बन्ध होने के मामले में गिरफ़्तार किया था। 2022 में जम्मू कश्मीर में भाजपा आईटी सेल के सदस्य तालिब हुसैन समेत एक अन्य को लश्कर-ए-तैयबा से सम्बन्धित होने व अमरनाथ यात्रा धमाके के आरोप में गिरफ़्तार किया गया है। 2022 में ही राजस्थान के उदयपुर हत्याकाण्ड में गिरफ़्तार मोहसीन और आसिफ़ के तार भी भाजपा से जुड़े बताये जा रहे हैं। 2022 के दोनों मामलों में भाजपा ने ख़ुद को बेगुनाह घोषित करते हुए अपराधियों के साथ किसी प्रकार के सम्बन्ध से ही इन्कार कर दिया है। भाजपा प्रवक्ताओं के अनुसार इन दोषियों के भाजपा के शीर्ष नेताओं से सम्बन्ध के दावे ग़लत हैं और जारी हो रही तस्वीरें इसका प्रमाण नहीं हैं। ताज्जुब की बात यह है कि ये आरोपी राजस्थान के शीर्ष भाजपा नेताओं के इतने क़रीब कैसे पहुँच जाते हैं?

भाजपा और संघ परिवार जिस फ़ासीवाद की उपज हैं, वह "राष्ट्रवाद" की आड़ में पूँजीपति वर्ग की सेवा करता है। लेनिन ने कहा था कि नस्लवादी अन्धराष्ट्रवादी पागलपन अक्सर सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का चोला पहनकर आता है। जिस राष्ट्रवाद का हवाला देकर भाजपा और संघ परिवार ने जनता को बैंक और अस्पतालों की क़तारों में खड़ा कर दिया, उस "राष्ट्र" की रक्षा के लिए कितने नेताओं के सगे-सम्बन्धियों ने इस कठिनाई का सामना किया? संघ परिवार के केन्द्रों में हथियार चलाने के प्रशिक्षण शिविरों में किस नेता की औलाद शामिल रही है? संघ परिवार द्वारा प्रायोजित दंगों और आतंकी गतिविधियों की भेंट चढ़ने वाले आपके बच्चे होंगे या अमित शाह और स्मृति ईरानी के? ऐन चुनावों के मौसम में ही आतंकी हमलों को क्यों और कैसे अंजाम दे दिया जाता है? 56 इंच का सीना होने का दावा करने वाली इस सरकार के नाक के नीचे 2019 में पुलवामा जैसा हमला कैसे सम्भव हो जाता है? आतंकी गतिविधियों में संलिप्त आरोपी, आईएसआई एजेण्ट भाजपा की सदस्यता कैसे पा जाते हैं? "देशभक्ति" और "राष्ट्रवाद" की आड़ में कहीं संघ परिवार और भाजपा झाँसा तो नहीं दे रहे? "झाँसा पट्टी में उनकी आना है, या उनको धता बताना है?" यह हमें तय करना है।

मज़दूर वर्ग की पार्टी कैसी हो? (चौथी क़िस्त)

पार्टी का राजनीतिक प्रचार और जनसमुदाय

– सनी

मज़दूर वर्ग की पार्टी का राजनीतिक प्रचार किस प्रकार ट्रेड यूनियनवाद से अलग होता है इस प्रश्न पर लेनिन की अर्थवादियों से लम्बी बहस चली। पिछले लेख में हमने ज़िक्र किया था कि किस तरह हड़ताल आन्दोलन के उभार के समय स्वतःस्फूर्ततावाद के पूजक अर्थवादी लोग मज़दूरों के बीच कम्युनिस्टों के प्रचार को केवल आर्थिक माँगों के लिए संघर्ष तक सीमित रखते थे। परन्तु कम्युनिस्टों का ख़ुद को मज़दूरों की आर्थिक माँगें उठाने तक सीमित करना ही अर्थवाद नहीं कहलाता है बल्कि मज़दूर वर्ग के अलावा जनसमुदाय की माँगों को अनदेखा करना भी अर्थवाद कहलाता है। ऐसा क्यों है? इसे समझने के लिए हमें कम्युनिस्ट राजनीति के सार को समझना होगा।

कम्युनिस्ट राजनीति का निशाना पूँजीवादी राज्यसत्ता होती है। पूँजीपति वर्ग की राज्यसत्ता को ध्वस्त कर ही मज़दूर वर्ग अपने राज्य को यानी सर्वहारा की तानाशाही को स्थापित कर सकता है। लेकिन मज़दूर वर्ग अकेले अपने बूते पर पूँजीपति वर्ग की राज्यसत्ता का ध्वंस नहीं कर सकता है। न तो मज़दूर वर्ग अकेले क्रान्ति कर सकता है न ही उसकी पार्टी। इतिहास जनता बनाती है। इतिहास-निर्माण के मौजूदा दौर में जनता का हिरावल मज़दूर वर्ग है और मज़दूर वर्ग की हिरावल मज़दूर वर्ग की पार्टी होती है। पूँजीवादी समाज में पूँजीपति वर्ग शासक वर्ग होता है तथा यह अपने शासन को अपनी राज्यसत्ता द्वारा जारी रखता है। जनता के हर स्वतःस्फूर्त तरीक़े से उठ खड़े प्रतिरोध या जन उभार को यह राज्यसत्ता कुचल सकती है या सोख सकती है। सच है कि जनता ही इतिहास बनाती है लेकिन सर्वहारा राजनीतिक दिशा और सर्वहारा नेतृत्व के अभाव में नहीं!

पूँजीवादी समाज में शासक वर्ग और जनता के बीच का अन्तरविरोध ख़ुद-ब-ख़ुद क्रान्तिकारी परिणति तक नहीं पहुँच सकता है। इस अन्तरविरोध को क्रान्तिकारी तरीक़े से हल करने, इसे इसकी परिणति तक पहुँचाने, यानी क्रान्ति को सम्भव बनाने की क्षमता सर्वहारा वर्ग और पूँजीपति वर्ग का अन्तरविरोध ही इसे प्रदान करता है। सर्वहारा वर्ग और पूँजीपति वर्ग के बीच का अन्तरविरोध ही पूँजीवादी समाज का प्रधान अन्तरविरोध होता है यानी वर्ग अन्तरविरोधों की समस्त कड़ियों में कुंजीभूत कड़ी होता है। केवल सर्वहारा वर्ग और पूँजीपति वर्ग के पास ही राज्य की परियोजना होती है और ये दोनों ही वर्ग जनसमुदायों के बीच अपने प्रभाव को स्थापित करने के लिए संघर्षरत होते हैं। ठीक इसीलिए मज़दूर वर्ग की पार्टी व्यापक मेहनतकश जनसमुदायों के संघर्षों से अलग-थलग नहीं रह सकती है।

अगर मज़दूर वर्ग की पार्टी मेहनतकश जनसुमदाय की माँगों को उठाने की जगह केवल मज़दूर वर्ग की तात्कालिक व आर्थिक वर्गीय माँगों को उठाये या हमेशा उसे ही तरजीह दे, तो यह अर्थवाद ही होगा। मसलन मज़दूर वर्ग की पार्टी अगर ग़रीब किसानों के संघर्ष से अलग-थलग रहे तो यह मज़दूर वर्ग के दीर्घकालिक राजनीतिक हितों के ख़िलाफ़ जायेगा और उसका राजनीतिक वर्ग संश्रय खटाई में पड़ जायेगा।

लेनिन ने कहा है कि हमें मेहनतकश जनसुमदाय के बीच प्रचार अभियान लेने चाहिए। यह प्रचार जनसमुदाय के अलग-अलग हिस्सों में अलग-अलग तरीक़ों से लिया जाना चाहिए। मसलन, ग़रीब किसान के संघर्ष के मुद्दे अलग होंगे तथा शहरी निम्न बुर्जुआ वर्ग यानी मध्य व निम्न मध्य वर्ग की माँगें अलग होंगी। न केवल भिन्न-भिन्न वर्गों की माँगें भिन्न होती हैं बल्कि मज़दूर वर्ग के भी अलग-अलग हिस्सों की माँगें अलग होती हैं। लेनिन सर्वहारा वर्ग के मित्र वर्गों में प्रचार अभियान पर चर्चा करते हुए कहते हैं कि : "क्रान्तिकारी सर्वहारा के हमदर्दों के रूप में मज़दूरों के अर्द्धसर्वहारा हिस्सों को अपने पक्ष में लाने के लिए तथा मध्यवर्ती समूहों का सर्वहारा वर्ग के प्रति अविश्वास दूर करने के लिए कम्युनिस्टों को भूस्वामियों, पूँजीपतियों और पूँजीवादी राज्य के साथ उनके विशेष शत्रुतापूर्ण अन्तरविरोधों का इस्तेमाल करना चाहिए। इसके लिए उनके साथ लम्बी बातचीत की, उनकी आवश्यकताओं के प्रति सूझबूझ-भरी हमदर्दी की तथा परेशानियों के समय उन्हें मुफ़्त सहायता और परामर्श देने की ज़रूरत पड़ सकती है। इन सबसे कम्युनिस्ट आन्दोलन के प्रति उनमें विश्वास पैदा होगा। कम्युनिस्टों को उन विरोधी संगठनों के हानिकारक प्रभावों को समाप्त करने के लिए काम करना चाहिए जो उनके ज़िलों में वर्चस्वकारी स्थिति में हों या जिनका मेहनतकश किसान आबादी पर, घरेलू उद्योगों में काम करने वाले लोगों पर या अन्य अर्द्धसर्वहारा वर्गों पर प्रभाव हो। शोषितगण अपने स्वयं के कड़वे अनुभवों से जिन लोगों को सम्पूर्ण अपराधी पूँजीवादी व्यवस्था का प्रतिनिधि या साक्षात मूर्तरूप समझते हैं, उन लोगों को बेनक़ाब करना ज़रूरी है। कम्युनिस्ट आन्दोलन (या आन्दोलनपरक प्रचार) के दौरान रोज़मर्रा की उन सभी घटनाओं का होशियारी के साथ और ज़ोरदार ढंग से इस्तेमाल किया जाना चाहिए जो राज्य नौकरशाही और निम्न पूँजीवादी जनवाद और न्याय के आदर्शों के बीच टकराव की स्थिति उत्पन्न करती हैं।

"प्रत्येक स्थानीय ग्रामीण संगठन को अपने ज़िले के सभी गाँवों, वासस्थानों और बिखरी हुई बस्तियों में कम्युनिस्ट प्रचार-प्रसार के लिए घर-घर घूमकर प्रचार करने का काम सावधानीपूर्वक अपने सदस्यों में बाँट देना चाहिए।"

मज़दूर वर्ग की पार्टी के राजनीतिक प्रचार का दूसरा पहलू यह है कि मज़दूर वर्ग का प्रचार जनसमुदाय के भिन्न हिस्सों के बीच इसलिए भी किया जाता है ताकि उनकी वर्ग चेतना को उभारा जा सके और उनके समक्ष पूँजीवाद और पूँजीवादी राज्यसत्ता की सच्चाई को बेपर्द किया जा सके। केवल मज़दूर वर्ग के कार्यक्षेत्र और मज़दूर के जीवन संघर्षों के क्षेत्र तक सीमित रहने से राजनीतिक चेतना नहीं पैदा हो सकती है। मज़दूर वर्ग का प्रचार तब क्रान्तिकारी प्रचार होगा जब वह "राज्यसत्ता तथा सरकार के साथ सभी वर्गों तथा स्तरों के सम्बन्धों के क्षेत्र" से तथा "सभी वर्गों के आपसी सम्बन्धों के क्षेत्र" तक विस्तारित हो। हमने इस लेख की दूसरी कड़ी में यह बतलाया था कि मज़दूर वर्ग की पार्टी के प्रचारक को जनता के हर वर्ग के बीच जाना चाहिए और इसके ज़रिए हर वर्ग के चेहरे को और उसके दिल में छिपी बात को उजागर करना चाहिए। यानी पूँजीवाद का सर्वांगीण भण्डाफोड़ ही मज़दूर वर्ग का राजनीतिक नारा होना चाहिए। यह नारा ही कम्युनिस्ट राजनीति और ट्रेड यूनियनवादी राजनीति में अन्तर करता है। लेनिन कहते हैं :

"हम देख चुके हैं कि अधिक से अधिक व्यापक राजनीतिक आन्दोलन चलाना और इसलिए सर्वांगीण राजनीतिक भण्डाफोड़ का संगठन करना गतिविधि का एक बिल्कुल ज़रूरी और सबसे ज़्यादा तात्कालिक ढंग से ज़रूरी कार्यभार है, बशर्ते कि यह गतिविधि सचमुच सामाजिक-जनवादी ढंग की हो। परन्तु हम इस नतीजे पर केवल इस आधार पर पहुँचे थे कि मज़दूर वर्ग को राजनीतिक शिक्षा और राजनीतिक ज्ञान की फ़ौरन ज़रूरत है। लेकिन यह सवाल को पेश करने का एक बहुत संकुचित ढंग है, कारण कि यह आम तौर पर सामाजिक-जनवादी आन्दोलन के और ख़ास तौर पर वर्तमान काल के रूसी सामाजिक-जनवादी आन्दोलन के आम जनवादी कार्यभारों को भुला देता है। अपनी बात को और ठोस ढंग से समझाने के लिए हम मामले के उस पहलू को लेंगे, जो "अर्थवादियों" के सबसे ज़्यादा "नज़दीक" है, यानी हम व्यावहारिक पहलू को लेंगे। "हर आदमी यह मानता है" कि मज़दूर वर्ग की राजनीतिक चेतना को बढ़ाना ज़रूरी है। सवाल यह है कि यह काम कैसे किया जाये, इसे करने के लिए क्या आवश्यक है?" तथा आगे लेनिन कहते हैं : "मज़दूरों में राजनीतिक वर्ग-चेतना बाहर से ही लायी जा सकती है, यानी केवल आर्थिक संघर्ष के बाहर से, मज़दूरों और मालिकों के सम्बन्धों के क्षेत्र के बाहर से। वह जिस एकमात्र क्षेत्र से आ सकती है, वह राज्यसत्ता तथा सरकार के साथ सभी वर्गों तथा स्तरों के सम्बन्धों का क्षेत्र है, वह सभी वर्गों के आपसी सम्बन्धों का क्षेत्र है। इसलिए इस सवाल का जवाब कि मज़दूरों तक राजनीतिक ज्ञान ले जाने के लिए क्या करना चाहिए, केवल यह नहीं हो सकता कि "मज़दूर के बीच जाओ" – अधिकतर व्यावहारिक कार्यकर्ता, विशेषकर वे लोग, जिनका झुकाव "अर्थवाद" की ओर है, यह जवाब देकर ही सन्तोष कर लेते हैं। मज़दूरों तक राजनीतिक ज्ञान ले जाने कि लिए सामाजिक-जनवादी कार्यकर्ताओं को आबादी के सभी वर्गों के बीच जाना चाहिए और अपनी सेना की टुकड़ियों को सभी दिशाओं में भेजना चाहिए।"

अतः राजनीतिक प्रचार के लिए कम्युनिस्टों को सभी वर्गों के बीच जाना ही होगा। कम्युनिस्टों को विभिन्न वर्गों की सामाजिक तथा राजनीतिक स्थिति की सभी विशेषताओं का अध्ययन करना होगा। यही कार्यभार मज़दूर वर्ग को जनवाद के लिए सबसे आगे बढ़कर लड़ने वाला वर्ग बनाता है। लेनिन कहते हैं कि : "सामाजिक-जनवादियों के सैद्धान्तिक काम का लक्ष्य विभिन्न वर्गों की सामाजिक तथा राजनीतिक स्थिति की सभी विशेषताओं का अध्ययन होना चाहिए। परन्तु कारख़ानों के जीवन की विशेषताओं का अध्ययन करने का जितना प्रयत्न किया जाता है, उसकी तुलना में इस प्रकार के अध्ययन का काम बहुत ही कम, हद दरजे तक कम, किया जाता है। समितियों और मण्डलों में आपको कितने ही ऐसे लोग मिलेंगे, जो मसलन धातु-उद्योग की किसी विशेष शाखा के अध्ययन में ही डूबे हुए हैं, पर इन संगठनों में आपको ऐसे सदस्य शायद ही कभी ढूँढ़े मिलेंगे, जो (जैसा कि अक्सर होता है, किसी कारणवश व्यावहारिक काम नहीं कर सकते) हमारे देश के सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन के किसी ऐसे तात्कालिक प्रश्न के सम्बन्ध में विशेष रूप से सामग्री एकत्रित कर रहे हों, जो आबादी के अन्य हिस्सों में सामाजिक-जनवादी काम करने का साधन बन सके। मज़दूर वर्ग के आन्दोलन के वर्तमान नेताओं में से अधिकतर में प्रशिक्षा के अभाव की चर्चा करते हुए हम इस प्रसंग में भी प्रशिक्षा की बात का ज़िक्र किये बिना नहीं रह सकते, क्योंकि "सर्वहारा के संघर्ष के साथ घनिष्ठ और सजीव सम्पर्क" की "अर्थवादी" अवधारणा से इसका भी गहरा सम्बन्ध है। लेकिन निस्सन्देह, मुख्य बात है जनता के सभी स्तरों के बीच प्रचार और आन्दोलन। पश्चिमी यूरोप के सामाजिक-जनवादी कार्यकर्ता को इस मामले में उन सार्वजनिक सभाओं और प्रदर्शनों से, जिसमें भाग लेने की सबको स्वतंत्रता होती है, और इस बात से बड़ी आसानी हो जाती है कि वह संसद के अन्दर सभी वर्गों के प्रतिनिधियों से बातें करता है। हमारे यहाँ न तो संसद है और न सभा करने की आज़ादी, फिर भी हम वैसे मज़दूरों की बैठकें करने में समर्थ हैं, जो सामाजिक-जनवादी की बातों को सुनना चाहते हैं। हमें आबादी के उन सभी वर्गों के प्रतिनिधियों की सभाएँ बुलाने में भी समर्थ होना चाहिए, जो किसी जनवादी की बातों को सुनना चाहते हैं, कारण कि वह आदमी सामाजिक-जनवादी नहीं है, जो व्यवहार में यह भूल जाता है कि "कम्युनिस्ट हर क्रान्तिकारी आन्दोलन का समर्थन करते हैं", कि इसलिए हमारा कर्तव्य है कि अपने समाजवादी विश्वासों को एक क्षण के लिए भी न छिपाते हुए हम समस्त जनता के सामने आम जनवादी कार्यभारों की व्याख्या करें तथा उन पर ज़ोर दें। वह आदमी सामाजिक-जनवादी नहीं है, जो व्यवहार में यह भूल जाता है कि सभी आम जनवादी समस्याओं को उठाने, तीक्ष्ण बनाने और हल करने में उसे और सब लोगों से आगे रहना है।"

कौन आज़ाद हुआ?
किसके माथे से सियाही छूटी
मेरे सीने में अभी दर्द है महकूमी का
मादर-ए-हिन्द के चेहरे पे उदासी है वही
– अली सरदार जाफ़री

हरियाणा सरकार की चिराग योजना : शिक्षा के निजीकरण की क़वायद के तहत प्राइवेट शिक्षा माफ़ियाओं को एक और तोहफ़ा

– रमन

हाल ही में हरियाणा सरकार द्वारा चिराग योजना का ऐलान किया गया है जिसमें आर्थिक रूप से कमज़ोर वर्ग के बच्चों (जिनकी वार्षिक पारिवारिक आय 1.80 लाख से कम है), जो कक्षा दूसरी से बारहवीं तक के छात्र हैं, का सरकारी विद्यालयों से निजी मान्यता प्राप्त विद्यालयों में दाख़िला दिलवाने के लिए इस योजना के तहत वर्ष 2022-23 के लिए कुल 24987 सीटें तय की गयी हैं। इन निजी स्कूलों में सीटों के अनुसार सरकार द्वारा इन बच्चों के दाख़िले के बाद इन्हें सरकारी अनुदान देने का दावा किया गया है, वहीं 134ए के तहत ग़रीब बच्चों के प्राइवेट स्कूलों में दाख़िले के नियम को समाप्त कर दिया गया है। यानी चिराग योजना के तहत सरकारी स्कूलों के बच्चों को प्राइवेट स्कूलों में शिफ़्ट कर दिया जायेगा। अगर सरकार की ये योजना सफल रहती है तो आने वाले 5-6 वर्षों में प्रदेश में सरकारी स्कूलों की संख्या तेज़ी से घट जायेगी और भविष्य में बच्चों और अभिभावकों को भी इसकी बहुत बड़ी क़ीमत चुकानी पड़ेगी। क्योंकि ग़रीब माता-पिताओं को भी बच्चों को नयी वर्दी, बैग, परिवहन का ख़र्चा, जूते आदि दिलाने के लिए यानी प्रावईट स्कूल के हिसाब से अपडेट रखने के चक्कर में अपनी कमाई का बड़ा हिस्सा ख़र्च करना ही पड़ेगा। दूसरी तरफ़ अगर सरकार ने बीच में या 3-4 साल बाद फ़ीस देनी बन्द कर दी या लेट करनी शुरू कर दी तो प्राइवेट स्कूल बच्चों को फ़ाइन के नाम पर लूटेंगे और बेइज़्ज़त करेंगे। अतः इस योजना से हरियाणा सरकार की मंशा साफ़ ज़ाहिर होती है कि पूँजीपतियों की मैनेजिंग कमेटी के रूप में काम करते हुए सरकार शिक्षा के बाज़ारीकरण को और द्रुत गति से आगे बढ़ाने के लिए मशक़्क़त कर रही है।

पूरे देश में आज लगभग 52 प्रतिशत विद्यार्थी प्राइवेट स्कूलों में दाख़िला ले चुके हैं। इसलिए सरकार को सिर्फ़ 48 प्रतिशत बच्चों के लिए ख़र्च करना पड़ता है। सरकार इसको घटाकर और कम करना चाहती है इसीलिए कभी 134A के नाम पर तो कभी चिराग योजना के नाम पर सरकारी स्कूलों के बच्चों के दाख़िले प्राइवेट स्कूलों में करवाना चाहती है जिससे सरकार अपने आक़ाओं (पूँजीपतियों) के ख़र्च को कम से कम करके तथा दूसरी तरफ़ संस्कृति मॉडल स्कूलों के नाम पर सरकारी स्कूलों में फ़ीस के ज़रिए पैसा इकट्ठा कर मुनाफ़ा सुनिश्चित कर सके।

हरियाणा सरकार इस योजना को शिक्षा व्यवस्था में सुधार के तौर पर लोगों के सामने पेश कर रही है। अगर सही मायने में आर्थिक रूप से कमज़ोर वर्गों के बच्चों को अच्छी शिक्षा देना चाहती है तो सरकार ये क्यों नहीं बताती कि सरकारी स्कूलों में अच्छी शिक्षा क्यों नहीं है?

एक तरफ़ लाखों की संख्या में हर वर्ष बी.एड. अध्यापक प्रशिक्षण कोर्स करवाये जाते हैं जिससे इन प्राइवेट स्कूलों के लिए समाज में बेरोज़गारों की बड़ी फ़ौज खड़ी की जाती है जिसके चलते ये बेरोज़गार युवा आबादी प्राइवेट स्कूलों में बेहद कम वेतन पर काम करने के लिए मजबूर हो जाती है और शिक्षा माफ़ियाओं के मुनाफ़े की हवस को पूरा करने का औज़ार मात्र बनकर रह जाती है।

सरकार यहाँ एक तीर से दो शिकार करने की फ़िराक में है। पहला, सरकारी स्कूलों के बच्चों को प्राइवेट स्कूलों में धकेलकर अपनी ज़िम्मेदारी से मुक्त होना तथा कुछ समय बाद फ़ण्ड की कमी का रोना रोकर यह अनुदान बन्द कर देना; दूसरा, सरकारी स्कूलों के अध्यापकों (जो अब भी छात्रों की संख्या के अनुपात में नगण्य हैं) की भर्तियाँ और भी कम करके उनके वेतन पर ख़र्च होने वाली राशि को भी पूँजीपतियों के सुपुर्द करना। जो नौजवान नौकरियों और भर्तियों की उम्मीद में दिन-रात मेहनत करते हुए अपनी ज़िन्दगी के बेशक़ीमती साल तैयारी करने में खपा रहे हैं, उनके साथ यह बेहद ही भद्दा मज़ाक़ है। रोज़गार की दर पिछले 48 सालों में अपने निम्नतम स्तर पर है जिसके ऊपर के और बढ़ने की दूर-दूर तक कोई सम्भावना नहीं है बल्कि सरकार अपनी नीतियों से यह सुनिश्चित करने पर जी जान से लगी हुई है कि रोज़गार की रही सही सम्भावनाएँ भी ख़त्म हो जायें ताकि आम मेहनतकश जनता व नौजवान धनपशुओं की ग़ुलामी करने को मजबूर हो जायें।

1991 में शुरू हुआ निजीकरण आज अपने विकराल रूप में मुँह बाए सब कुछ निगल जाने पर आमादा है। आज की फ़ासिस्ट मोदी सरकार जनता पर आपदा बनकर क़हर बरपा रही है तथा जनता पर थोपी जा रही इन आपदाओं को पूँजीपतियों के लिए अवसर बनाकर परोस रही है। हमें पूँजीपति वर्ग और उसकी राज्यसत्ता के इन नापाक इरादों की पुख़्ता पहचान करके इसका मुक़म्मल जवाब देना होगा।

एक बार फिर विकल्पहीनता की स्थिति से गुज़रती श्रीलंका की जनता

(पेज 7 से आगे)

राज्यनीत पूँजीवादी विकास के ज़रिए उत्पादक शक्तियों के आधार को उद्योगों में विस्तारित किया। श्रीलंका में हमें ऐसा देखने को नहीं मिलता है। नवउदारवादी नीतियों के लागू होने के बाद तो इसकी सम्भावना नगण्य रह गयी। आर्थिक संकट से निपटने के लिए जयवर्धने ने तीन बड़े क़र्ज़ आईएमएफ़ से लिये : पहला 1977-78, दूसरा 1979-82 और 1983-84। 1977 से 1983 आते आते नवउदारवादी नीतियों के विकास का गुब्बारा फूटने लगा। अर्थव्यवस्था में भुगतान संकट, बेरोज़गारी, महँगाई खुलकर सामने आने लगी। आर्थिक संकट से निपटने के लिए सिंहला-तमिल विवाद को ज़ोर की हवा दी गयी। 1983 में तमिल आबादी का ब्लैक जुलाई (काला जुलाई) नरसंहार हुआ और यहाँ से गृहयुद्ध की शुरुआत हुई जो 26 वर्षों तक चला। इस दौरान तमिल आबादी का भयंकर नरसंहार चला, मानवाधिकारों की धज्जियाँ उड़ायी गयीं, सेना को जघन्य अमानवीय अत्याचारों की पूरी छूट दी गयी थी। इस युद्ध में जनता का पैसा पानी की तरह बहाया गया। 1982 तक जिस सरकार के कुल सकल घरेलू उत्पाद का 4.4 फ़ीसदी रक्षा बजट हुआ करता था वह 1996 आते-आते 21.6 फ़ीसदी हो गया। समझा जा सकता है कि यह युद्ध सिंहली और तमिल दोनों आबादी के मेहनतकश वर्गों के लिए ही घातक था। लेकिन निश्चित ही मौत, हिंसा, बलात्कार व विस्थापन के जिस दौर से तमिल आबादी गुज़री है उसकी तुलना हम नहीं कर सकते। लेकिन इतना कहा जा सकता है कि सत्ता द्वारा भड़कायी जाने वाली अन्धराष्ट्रवाद और रंग भेद की राजनीति हमेशा से मज़दूरों और आम मेहनतकश आबादी के हितों के ख़िलाफ़ होती है। इस राजनीति के झाँसे में आकर हम अपने अधिकारों से हाथ धो बैठते हैं।

बहरहाल, पहले से ही गतिरोध की शिकार अर्थव्यवस्था गृहयुद्ध के भारी बोझ को सँभाल सकने में अक्षम थी। राजकोषीय घाटा तेज़ी से बढ़ने लगा। ऐसी स्थिति में श्रीलंका की निर्भरता विदेशी ऋणों पर बढ़ती चली गयी। विदेशी ऋण अपनी शर्तों के साथ आते हैं। अर्थव्यवस्था को ज़्यादा से ज़्यादा पूँजी निवेश के लिए आसान बनाना, बाधाओं को समाप्त करना तथा श्रम के बेरोकटोक शोषण की शर्तों के साथ ही आते हैं। कमज़ोर अर्थव्यवस्था वाले श्रीलंका के सामने नवउदारवाद के दौर में ऋणों के भुगतान का कोई श्रोत नहीं रह गया और यह ज़्यादा से ज़्यादा ऋणों के बोझ तले दबती चली गयी। 43 हज़ार तमिल नागरिको के क़त्लेआम के बाद गृहयुद्ध समाप्त हुआ। जर्जर अर्थव्यवस्था को चलाने के लिए महिन्दा राजपक्षे की सरकार ने एकबार फिर आईएमएफ़ से 2.6 बिलियन डॉलर का क़र्ज़ लिया। विश्व पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था से नाभिनालबद्ध श्रीलंका की अर्थव्यवस्था में तेज़ी सट्टेबाज़ वैश्विक वित्तीय पूँजी की वजह से 2009 से 2012 के बीच आयी। लेकिन 2012 में एक बार फिर विश्व स्तर पर प्राथमिक मालों की क़ीमतों में गिरावट से श्रीलंका के विदेशी मुद्रा भण्डार में गिरावट आयी और अर्थव्यवस्था डगमगाने लगी। इस अल्पकालिक उछाल के बाद श्रीलंका के सकल घरेलू उत्पाद की वृद्धि में गिरावट लगातार जारी है। 2016 में श्रीलंका ने 16वीं बार क़र्ज़ लिया। 2016 से 2019 तक तीन सालों की अवधि के लिए 150 करोड़ डॉलर का लोन आईएमएफ़ से लिया जा चुका है।

श्रीलंका आज़ादी के बाद 1960 के दशक तक औपनिवेशिक काल की अर्थव्यवस्था में कुछ छोटे-मोटे बदलाव के साथ मुख्यत: बाग़ान व खेती आधारित अर्थव्यवस्था ही बना रहा। देश के औद्योगीकरण व भूमि सुधारों की शुरुआत हुई। लेकिन इस औद्योगीकरण और भूमि सुधार की सीमा रही। "समाजवादी" आवरण वाले पूँजीवादी विकास व राष्ट्रीयकरण का दौर अल्पजीवी रहा, जिसकी चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं। आधारभूत उद्योगों का कम विकास, अर्थव्यवस्था के विविधिकरण को नज़रन्दाज़ किया जाना तथा पूँजीपतियों को लूट की खुली छूट देना समय-समय पर श्रीलंका की अर्थव्यवस्था को संकट के कगार पर लाता रहा। साथ ही, भारी-भरकम नौकरशाही, चुनाव, संसद व चुनावी वायदे सभी मिलकर ऐसे संकट का निर्माण करते हैं जो आईएमएफ़ व विश्व बैंक से ऋण लेना अपरिहार्य बना देते हैं। राजपक्षे की सनक-भरी नीतियों या कोरोना काल के लॉकडाउन अपने आप में इस संकट का कारण नहीं हैं लेकिन इन्होंने आग में घी डालने का काम किया है। असमान पूँजीवादी विकास से गुज़र रहा देश अपनी कमज़ोर स्थिति की वजह से विश्व पूँजीवादी आर्थिक तंत्र से नाभिनालबद्ध हो गया है। इस प्रकार श्रीलंका का मौजूदा आर्थिक संकट देश के अनियमित पूँजीवादी विकास की कोख से पैदा हुआ है जिसे गोटाबाया राजपक्षे सरकार की आत्मघाती आर्थिक नीतियों, कोरोना महामारी और रूस यूक्रेन यद्ध ने विस्फोटक स्थिति में पहुँचा दिया है।

आज श्रीलंका की आम जनता के पास कोई विकल्प नहीं है। जनता के बीच, ख़ासकर नौजवानों के बीच विमुक्ति पेरुमना पार्टी की लोकप्रियता बढ़ रही है। लेकिन यह पार्टी भी अपने शुरुआती जुझारू दौर को छोड़ दें तो कई बार साझा सरकार का हिस्सा रही है और आज भी यह किसी आमूलगामी बदलाव की बात नहीं कर रही है। जनता के पास कोई भी क्रान्तिकारी विकल्प नहीं है जो पूँजीवादी सत्ता के विनाश और समाजवाद की स्थापना की राह दिखाये। मज़दूर और आम मेहनतकश जनता को पूँजीवादी शोषण से मुक्ति तो एक सर्वहारा क्रान्ति ही दे सकती है। लेकिन ऐसी किसी भी क्रान्ति के लिए क्रान्तिकारी पार्टी मौजूद होनी चाहिए। लेकिन अभी श्रीलंका में हमें ऐसी कोई उम्मीद नहीं दिख रही है। ऐसा लगता है कि अभी जनता को लम्बा इन्तज़ार करना होगा। लेकिन अफ़सोस की बात यह है कि सर्वहारा वर्ग की हिरावल पार्टी की ग़ैर-मौजूदगी में श्रीलंका में क्रान्तिकारी स्थिति गुज़र रही है, जिसकी सज़ा वहाँ के सर्वहारा वर्ग और आम मेहनतकश जनता को आने वाले समय में किसी न किसी बुर्जुआ प्रतिक्रिया के रूप में चुकानी पड़ सकती है।

"...नौजवानों को क्रान्ति का यह सन्देश देश के कोने-कोने तक पहुँचाना है, फ़ैक्टरी-कारख़ानों के क्षेत्रों में, गन्दी बस्तियों और गाँवों की जर्जर झोंपड़ियों में रहने वाले करोड़ों लोगों में इस क्रान्ति की अलख जगानी है जिससे आज़ादी आयेगी और तब एक मनुष्य द्वारा दूसरे मनुष्य का शोषण असम्भव हो जायेगा।"

– भगतसिंह

(19 अक्टूबर 1929 को पंजाब छात्र संघ, लाहौर के दूसरे अधिवेशन को भेजे गये सन्देश में)

“सादगीपसन्द” और “परोपकारी” पूँजीपतियों की असलियत

– आनन्द

भारत में अम्बानी और अदानी जैसे पूँजीपतियों के लुटेरे चरित्र के बारे में सभी जानते हैं और यहाँ तक कि पूँजीवादी मीडिया में भी ऐसे पूँजीपतियों के भ्रष्ट व अनैतिक आचरण के बारे में तमाम ख़बरें प्रकाशित हो चुकी हैं। परन्तु नारायण मूर्ति व अज़ीम प्रेमजी जैसे पूँजीपतियों की छवि न सिर्फ़ नौकरियाँ पैदा करके समाज का उद्धार करने वालों के रूप में स्थापित है बल्कि उनकी सादगी, दयालुता, परोपकार व नैतिकता के तमाम क़िस्से समाज में प्रचलित हैं और मीडिया में भी अक्सर उनकी शान में क़सीदे पढ़े जाते हैं। मिसाल के लिए उनके बारे में यह बताया जाता है कि वे अपनी सम्पत्ति का एक हिस्सा सामाजिक कामों के लिए दान में देते हैं, वे इतना धनी होने के बावजूद साधारण कार से चलते हैं और अपने कार्यकाल के दौरान वे ऑफ़िस में खाना खाने के लिए कैण्टीन में आम कर्मचारियों के साथ लाइन में खड़े होते थे, आदि-आदि। यही नहीं, वे समय-समय पर समाज में बढ़ती असमानता पर सार्वजनिक रूप से चिन्ता भी ज़ाहिर करते रहते हैं और मुखर रूप से एक “दयालु”, “परोपकारी” व “मानवीय चेहरे वाले” पूँजीवाद की वकालत भी करते हैं।

वास्तव में ऐसे पूँजीपति अपने बारे में इस प्रकार के क़िस्से-कहानियाँ प्रायोजित रूप से इसलिए फैलाते हैं ताकि मेहनतकशों के श्रम की बेहिसाब लूट से खड़ी की गयी उनकी अपार सम्पत्ति पर पर्दा डाला जा सके और पूँजीवाद से लोगों के हो रहे मोहभंग की प्रक्रिया को रोका जा सके। सच तो यह है कि “सादगीपसन्द” मूर्ति महोदय के पास 30 हज़ार करोड़ से भी ज़्यादा और “परोपकारी” प्रेमजी महाशय के पास एक लाख करोड़ रुपये से भी ज़्यादा की सम्पत्ति है। पूँजीपति के रूप में बने रहने के लिए और मुनाफ़े की अन्तहीन हवस को पूरा करने के लिए वे बुढ़ापे में भी अपनी कम्पनियों के अलावा तमाम वेंचर कैपिटल व हेज फ़ण्ड्स में भी निवेश करते रहते हैं। यही नहीं, इन दोनों ने अपने परिवार के सदस्यों को भी अपनी कम्पनी का शेयरहोल्डर बनाया है जिसकी बदौलत उनके परिवार के हरेक सदस्य की व्यक्तिगत सम्पत्ति करोड़ों में है। इनके परिवार के सदस्यों के पास कितनी सम्पत्ति है इसका अन्दाज़ा इसी बात से लगाया जा सकता है कि नारायण मूर्ति की बेटी अक्षता मूर्ति, जो ब्रिटेन के प्रधामंत्री पद के दावेदार ऋषि सुनक की पत्नी हैं, के पास ब्रिटेन की महारानी से भी ज़्यादा सम्पत्ति है और ब्रिटेन जैसे साम्राज्यवादी देश के लोगों के भी इतनी सम्पत्ति की बात गले नहीं उतर रही है। अज़ीम प्रेमजी ने तो अपनी पारिवारिक परम्परा को आगे बढ़ाते हुए विप्रो की पूरी बागडोर ही अपने बेटे रिशद प्रेमजी के हवाले कर दी है।

सच तो यह है कि इन पूँजीपतियों के पास जो सम्पत्ति का भण्डार है वह उनकी कम्पनी में काम कर रहे कर्मचारियों के श्रम की लूट से पैदा हुए अतिरिक्त मूल्य की बदौलत ही मुमकिन हुआ है। सॉफ़्टवेयर उत्पादों व सेवाओं के रूप में जो माल इंफ़ोसिस व विप्रो जैसी आईटी कम्पनियों में बनता है वह नारायण मूर्ति व अज़ीम प्रेमजी के ख़ुद के व उनके परिवार के सदस्यों के श्रम से नहीं बल्कि उनमें काम कर रहे आईटी इंजीनियरों व अन्य कर्मचारियों के श्रम की बदौलत बनता है। इन इंजीनियरों व कर्मचारियों को उनके श्रम के बदले उनके द्वारा पैदा किये गये कुल मूल्य का एक छोटा-सा हिस्सा ही तनख़्वाह के रूप में मिलता है। यही नहीं, ये आईटी कम्पनियाँ विदेशी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को आईटी इंजीनियरों को सप्लाई करने का भी काम करती हैं और उनसे डॉलर में प्राप्त मोटी रक़म का एक बेहद छोटा हिस्सा उन इंजीनियरों को रुपये में तनख़्वाह के रूप में देकर बाक़ी अपने पास रख लेती हैं।

कुछ लोग यह तर्क देते हैं कि मूर्ति व प्रेमजी जैसे लोग स्वयं भी मानसिक श्रम किया करते थे जिसके बिना उनकी कम्पनियाँ तरक़्क़ी नहीं कर सकती थीं, इसलिए उन्हें बदले में मुनाफ़ा कमाने का अधिकार है। लेकिन ऐसे लोग यह भूल जाते हैं कि सीईओ के रूप में अपनी मानसिक श्रमशक्ति के मूल्य के बदले वे तनख़्वाह (जो उनके मानसिक श्रमशक्ति के मूल्य से कहीं ज़्यादा हुआ करती थी) अलग से लेते थे जो उनके मुनाफ़े से बिल्कुल अलग चीज़ है। मुनाफ़ा उनकी मानसिक श्रमशक्ति का मूल्य नहीं होता बल्कि एक मालिक के रूप में कर्मचारियों के श्रम द्वारा पैदा किये गये अतिरिक्त मूल्य को हड़पने से पैदा होता है। नारायण मूर्ति के बारे में एक क़िस्सा यह भी प्रचलित है कि उन्होंने अपनी पत्नी सुधा मूर्ति के गहने बेचकर इंफ़ोसिस की स्थापना के लिए आवश्यक प्रारम्भिक पूँजी इकट्ठा की थी। लेकिन ऐसे क़िस्से सुनाने वाले लोग यह भूल जाते हैं कि उन गहनों को सुधा मूर्ति ने ख़ुद नहीं बनाया था, बल्कि उन्हें किसी अन्य कारख़ाने में मज़दूरों ने ही बनाया होगा। इंफ़ोसिस जैसी आईटी कम्पनी में लगे कम्प्यूटर व तमाम प्रौद्योगिकी भी किसी अन्य कम्पनी में काम करने वाले इंजीनियरों व मज़दूरों के मानसिक व शारीरिक श्रम की बदौलत ही बनते हैं। अज़ीम प्रेमजी को विप्रो की स्थापना के लिए आवश्यक आरम्भिक पूँजी अपने पिता से विरासत में मिली थी। लेकिन उनके पिता के पास जो पूँजी थी वह भी उनके कारख़ाने में काम करने वाले मज़दूरों के श्रम की लूट से ही अर्जित की गयी थी। यही नहीं, इंफ़ोसिस व विप्रो जैसी कम्पनियों को सरकार की ओर से भाँति-भाँति की सब्सिडी दी जाती रही है जो इस देश की मेहनतकश आबादी से वसूले करों द्वारा ही मुमकिन होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इन पूँजीपतियों के पास जो सम्पत्ति की अट्टालिका है उसकी एक-एक ईंट इस देश की मेहनतकश आबादी की मेहनत की बदौलत ही मुमकिन हुई है।

अपनी इस अकूत सम्पत्ति का एक छोटा-सा हिस्सा ख़ैरात में देकर ये पूँजीपति ख़ुद को दयालु व परोपकारी दिखाने का जो पाखण्ड रचते हैं, आइए उसकी असलियत उन्हीं की ज़ुबानी जानते हैं। अपने एक हालिया इण्टरव्यू में नारायण मूर्ति ने अपनी सादगी का राज़ ख़ुद ही उगल दिया। उन्होंने बताया कि वे सादगी से इसलिए रहते हैं क्योंकि वे गाँधी से बहुत प्रभावित हैं। हालाँकि सरोजनी नायडू जैसे लोग गाँधी की इसलिए आलोचना करते रहते थे कि उनको ग़रीब दिखाने में बहुत ज़्यादा ख़र्च करना पड़ता है, लेकिन फिर भी गाँधी सादगी से रहते थे क्योंकि वे भारत के लोगों की मानसिकता को जानते थे कि अगर उनके बीच अपनी अच्छी छवि बनाये रखनी है तो सादगी से ही रहना सबसे अच्छा उपाय है। इस प्रकार मूर्ति ने स्वयं ही यह बता दिया कि वे भारत के लोगों के बीच अच्छी छवि बनाये रखने के लिए सादगी से रहते हैं। दरअसल उन्हें यह चिन्ता सताये रहती होगी कि कहीं भारत की जनता को यह पता न चल जाये कि देश के लोगों की मेहनत को लूटकर उन्होंने पूँजी का अम्बार खड़ा किया है जिसका लाभ उनका पूरा परिवार उठा रहा है। वैसे इस सादगी का उनको एक दूसरा फ़ायदा भी मिलता है। उनकी सादी जीवनशैली की वजह से उन्हें अपने मुनाफ़े का बहुत छोटा हिस्सा ही अपने निजी उपभोग पर ख़र्च करना पड़ता है और शेष हिस्सा पूँजी को बढ़ाने के लिए फिर से निवेश के लिए उपलब्ध रहता है। इस प्रकार उनकी सादगी उनकी पूँजी को लगातार बढ़ाने में भी मदद करती है।

अज़ीम प्रेमजी की छवि भी सामाजिक सरोकार रखने वाले “परोपकारी” पूँजीपति के रूप में स्थापित है। वारेन बफ़ेट व बिल गेट्स सरीख़े साम्राज्यवादी देशों के लुटेरे पूँजीपतियों द्वारा परोपकार के नाम पर किये गये ढोंग-पाखण्ड से प्रभावित होकर प्रेमजी न सिर्फ़ अपनी सम्पत्ति के एक हिस्से को सामाजिक कामों में लगाते हैं बल्कि अन्य पूँजीपतियों से भी ऐसा करने का आग्रह करते रहते हैं। उनके द्वारा स्थापित अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन शिक्षा व पर्यावरण जैसे मुद्दों पर काम कर रही तमाम ग़ैर-सरकारी संस्थाओं को फ़ण्ड करता है और स्वयं भी शिक्षा के क्षेत्र में काम करता है। अपने इन “परोपकारी” कामों की ज़रूरत के बारे में कुछ समय पहले एक इण्टरव्यू में उन्होंने बताया था कि अगर भारत के पूँजीपति ऐसा नहीं करेंगे तो यहाँ समाजवाद की शक्तियाँ हावी हो जायेंगी। प्रेमजी भी गाँधी से प्रभावित हैं और यह स्वीकार करते हैं कि अपने “परोपकारी” कामों के लिए उन्हें गाँधी के ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त से प्रेरणा मिलती है। इस प्रकार हम पाते हैं कि गाँधी न सिर्फ़ अपने समय में समाजवादी शक्तियों यानी मज़दूर वर्ग की शक्तियों से भयाक्रान्त पूँजीपति वर्ग के मार्गदर्शक बने थे बल्कि आज भी भारत के पूँजीपतियों के तारनहार बने हुए हैं।

मज़दूर वर्ग के महान शिक्षकों मार्क्स व एंगेल्स ने आज से 174 साल पहले कम्युनिस्ट घोषणापत्र में ही यह कहा था कि बुर्जुआ वर्ग का एक हिस्सा समाज की बुराइयों को दूर करना चाहता है और दान-पुण्य करता रहता है ताकि बुर्जुआ समाज को बरक़रार रखा जा सके। नारायण मूर्ति व अज़ीम प्रेमजी जैसे पूँजीपति इसी श्रेणी के भारतीय पूँजीपति हैं और वे समाज की भलाई के नाम पर जो काम करते हैं उसका मक़सद एक ऐसी व्यवस्था को बचाना है जो मेहनतकशों के निर्मम शोषण व उत्पीड़न पर टिकी है। इस मायने में वे अम्बानी व अदानी जैसे पूँजीपतियों से ज़्यादा शातिर व ख़तरनाक हैं क्योंकि उनका ध्यान केवल आने वाले क्वार्टर में अर्जित मुनाफ़े पर ही नहीं रहता, बल्कि वे मुनाफ़े की जननी पूँजीवादी व्यवस्था की आयु लम्बी करने के लिए भी लगातार काम करते रहते हैं।

आज़ादी का (अ)मृत महोत्सव : अडानियों-अम्बानियों की बढ़ती सम्पत्ति, आम जनता की बेहाल स्थिति

(पेज 16 से आगे)

वर्षों के सफ़रनामे का नतीजा है कि आज हमारे देश में 30 करोड़ से ज़्यादा लोग बेरोज़गार हैं। 4 करोड़ लोग ऐसे हैं जिनके घर बिजली नहीं पहुँची है और 18 करोड़ लोगों के पास घर ही नहीं है। आजकल भी 20 प्रतिशत आबादी खुले में शौच करती है। जहाँ तक दवा-इलाज़ की सुविधाओं की बात है तो यहाँ भी स्थिति बेहद ख़राब है। दवाएँ 50 प्रतिशत भारतीयों की पहुँच से बाहर हैं। शहरों में 1 लाख लोगों के पीछे 4.48 अस्पताल और 308 बिस्तर हैं, जबकि गाँवों में प्रति 1 लाख लोगों के पीछे 0.77 अस्पताल और 44 बिस्तर हैं। बाक़ी कोरोना काल ने चिकित्सा व्यवस्था की पोल पूरी तरह खोलकर रख ही दी। यही हाल शिक्षा का भी है, जिसमें नयी शिक्षा नीति के माध्यम से आम घरों के नौजवानों को शिक्षा से दूर किया जा रहा है। त्रासदी देखिए, एक तरफ़ दुनिया के शीर्ष पूँजीपतियों में भारत के पूँजीपति शामिल हैं, वहीं भुखमरी में भी भारत नीचे से सबसे शीर्ष देशों में शामिल है।

ऐसे में भगतसिंह के ये शब्द याद आते हैं, जो आज बिल्कुल सच साबित हो रहे हैं : **“समाज का प्रमुख अंग होते हुए भी आज मज़दूरों को उनके प्राथमिक अधिकार से वंचित रखा जा रहा है और उनकी गाढ़ी कमाई का सारा धन शोषक पूँजीपति हड़प जाते हैं। दूसरों के अन्नदाता किसान आज अपने परिवार सहित दाने-दाने के लिए मुहताज हैं। दुनियाभर के बाज़ारों को कपड़ा मुहैया करने वाला बुनकर अपने तथा अपने बच्चों के तन ढँकनेभर को भी कपड़ा नहीं पा रहा है। सुन्दर महलों का निर्माण करने वाले राजगीर, लोहार तथा बढ़ई स्वयं गन्दे बाड़ों में रहकर ही अपनी जीवन-लीला समाप्त कर जाते हैं। इसके विपरीत समाज के जोंक शोषक पूँजीपति ज़रा-ज़रा-सी बातों के लिए लाखों का वारा-न्यारा कर देते हैं। यह भयानक असमानता और ज़बर्दस्ती लादा गया भेदभाव दुनिया को एक बहुत बड़ी उथल-पुथल की ओर लिये जा रहा है। यह स्थिति अधिक दिनों तक क़ायम नहीं रह सकती। स्पष्ट है कि आज का धनिक समाज एक भयानक ज्वालामुखी के मुख पर बैठकर रंगरेलियाँ मना रहा है और शोषकों के मासूम बच्चे तथा करोड़ों शोषित लोग एक भयानक खड्ड की कगार पर चल रहे हैं।”**

डाक पंजीयन : SSP/LW/NP-319/2020-2022
प्रेषण डाकघर : आर.एम.एस, चारबाग़, लखनऊ
प्रेषण तिथि : दिनांक 5, प्रत्येक माह

आज़ादी का (अ)मृत महोत्सव : अडानियों-अम्बानियों की बढ़ती सम्पत्ति, आम जनता की बेहाल स्थिति

– भारत

मेहनतकश साथियों, इस साल हमारा देश आज़ादी की 75वीं वर्षगांठ मना रहा है। हर बार की तरह मोदीजी फिर इस बार लाल क़िले पर चढ़कर लम्बे-लम्बे भाषण देंगे। बड़े-बड़े वायदे करेंगे, जो हर बार की तरह पूरे नहीं होने वाले। इसका कारण भी है क्योंकि मोदी जी के लिए देश का मतलब आम जनता नहीं बल्कि देश के पूँजीपति हैं, इसलिए धन्नासेठों से किये सारे वायदे पूरे होते हैं और जनता को दिये जाते हैं बस जुमले। इस बार ये सरकार आज़ादी का मृत महोत्सव, माफ़ कीजिएगा, "अमृत महोत्सव" मना रही है। पर सवाल है किसके लिए आज़ादी? इसे जानने के लिए दूर मत जाइए, बस निगाह दौड़ाइए पिछले दो वर्षों में और बताइए हमारे जीवन के हालात क्या हैं? कोरोना की पहली लहर में हमारे साथ भेड़ बकरियों की तरह सुलूक किया गया और हम लोग हज़ारों किलोमीटर पैदल चलकर अपने गाँव गये, भूखे रहना पड़ा, सैकड़ों मज़दूरों की मौत इस दौरान हो गयी। याद कीजिए उस समय मोदी सरकार क्या कर रही थी? मोदीजी टीवी पर रामायण दिखा रहे थे, थाली बजवा रहे थे, दीये जलवा रहे थे और हम कीट-पतंगों की तरह मर रहे थे। क्या ये ग़ुलामी नहीं है?

अब आइए उसी दौर में हमारे ही देश की दूसरी तस्वीर देखते हैं। आपने गौतम अडानी का नाम तो सुना ही होगा। ये भारत और एशिया के दूसरे सबसे धनी व्यक्ति हैं। कोरोना काल यानि पिछले साल 2021 में इनकी सम्पत्ति में 49 अरब डॉलर का इज़ाफ़ा हुआ है। यह दुनिया के शीर्ष के सबसे अधिक अमीर उद्योगपतियों इलॉन मस्क, जेफ़ बेजोस और बेनॉर्ड अर्नाल्ट की सम्पत्तियों में शुद्ध रूप से हुई वृद्धि से अधिक है। वहीं रिलायंस इण्डस्ट्रीज के प्रमुख मुकेश अम्बानी 103 अरब डॉलर की सम्पत्ति के साथ सबसे अमीर भारतीय बने हुए हैं। उनकी सम्पत्ति में सालाना आधार पर 24 फ़ीसदी की वृद्धि हुई है। अगर अनुमान लगाया जाये तो अम्बानी हर मिनट 2.35 लाख रुपये कमाता है। वहीं बन्दरगाह से लेकर ऊर्जा समेत विभिन्न कारोबार से जुड़े अडानी समूह के प्रमुख गौतम अडानी 81 अरब डॉलर की सम्पत्ति के साथ दूसरे स्थान पर हैं। उनकी सम्पत्ति में 153 फ़ीसदी वृद्धि हुई है। हुरुन ग्लोबल की अमीरों की सूची के अनुसार पिछले 10 वर्षों में अम्बानी की सम्पत्ति 400 फ़ीसदी और अडानी की सम्पत्ति 1830 फ़ीसदी बढ़ी है। इसी रिपोर्ट के अनुसार भारत अरबपतियों की संख्या के आधार पर दुनिया में तीसरे पायदान पर है। भारत में अरबपतियों की संख्या 215 है, जबकि चीन में 1133 और अमेरिका में 716 है।

अब आते हैं एक बार फिर अपने हालात पर। एक तरफ़ अडानी-अम्बानी की सम्पत्ति दिन दुगुनी और रात चौगुनी तरक़्क़ी कर रही है, वहीं हम दिन रात 12-14 घण्टे खटकर भी अपनी बुनियादी ज़रूरतें पूरी नहीं कर पाते। महँगाई में हुई बेतहाशा वृद्धि ने सीधा असर हमारी ज़िन्दगी पर डाला है। चाहे गैस सिलेण्डर, पेट्रोल के दामों में वृद्धि हो या फिर खाने-पीने के सामानों पर, ये सब क़हर बनकर हमारे ऊपर टूट रहे हैं। ऊपर से मोदी सरकार के एक और नये फ़रमान के मुताबिक़ अब दाल, चावल, आटा, गेहूँ समेत सभी अनाजों पर पाँच प्रतिशत जीएसटी लगेगा। यानी खुलेआम क़ानूनी तरीक़े से हमें लूटा जा रहा है! दूसरी तरफ़ एक रिपोर्ट में बताया गया है कि कारख़ानों, निर्माण और खनन जैसे क्षेत्रों में काम करने वाले दो-तिहाई से अधिक मज़दूरों को 8000-10000 मासिक वेतन मिलता है। कारख़ानों में काम करने वाले मज़दूरों की वास्तविक मज़दूरी लगातार घट रही हैं। 1984 में जहाँ कुल उत्पादन लागत का 45 प्रतिशत हिस्सा मज़दूरी के रूप में मज़दूरों को दिया जाता था, वह 2010 तक आते-आते केवल 25 प्रतिशत रह गया। इसका सीधा मतलब है : ज़्यादा मेहनत और अधिक उत्पादन करने के बावजूद मज़दूरी लगातार सापेक्ष और अक्सर निरपेक्ष रूप से घटी है, जबकि मालिकों का मुनाफ़ा लगातार बढ़ता गया है। इसके साथ ही मोदी सरकार चार लेबर कोड को लागू कर मज़दूरों के अधिकारों को पूरी तरह कुचलने की तैयारी में है। अब बताइए महीने में 8-10 हज़ार कमाकर, मुश्किल से अपने व अपने परिवार के पेट का गड्ढा भरकर हम कैसे आज़ादी मना सकते हैं? ये आज़ादी का अमृत महोत्सव हमारे लिए विष के प्याले से अधिक कुछ नहीं है।

एक तरफ़ मोदी सरकार हमारी जेब पर डाका डाल रही है, पर दूसरी तरफ़ ये अपने आक़ाओं पर मेहरबान है और उनकी "अर्थव्यवस्था" को पूरी मेहनत के साथ आगे बढ़ा रही है। आइए जानते है कैसे? भारत का कुल मुद्रा भण्डार है 4.7 ट्रिलियन रुपये और अडानी की कम्पनी पर क़र्ज़ है 2.2 ट्रिलियन रुपये का। इसका सीधा मतलब यह है कि भारत के रिज़र्व का आधा पैसा देश की एक कम्पनी के हाथों में है। अडानी ग्रुप की सभी कम्पनियों पर 2.18 लाख करोड़ रुपये का क़र्ज़ है। मार्च 2022 तक गौतम अडानी ग्रुप की कम्पनियों का क़र्ज़ पिछले साल की तुलना में 42 प्रतिशत से ज़्यादा बढ़ चुका है। जानकारी के मुताबिक़ पिछले साल अडानी ग्रुप की सभी कम्पनियों पर कुल मिलाकर क़रीब 1.57 लाख करोड़ रुपये का क़र्ज़ था, लेकिन इस वर्ष अडानी के क़र्ज़ में एक बार फिर एक बड़ा उछाल देखा गया है। मॉर्निंग कॉण्टेक्स्ट के आँकड़ों के मुताबिक़, समूह की कम्पनियों में क़र्ज़ में सबसे ज़्यादा वृद्धि इसकी प्रमुख इकाई अडानी एण्टरप्राइज़ेज़ में दर्ज की गयी, जो साल-दर-साल 155 प्रतिशत बढ़कर 2021-22 में 41,024 करोड़ रुपये हो गयी। अडानी ने हाल ही में होल्सिम से एसीसी और अम्बुजा सीमेण्ट को 10.5 अरब डॉलर (क़रीब 80,800 करोड़ रुपये) में ख़रीदा है। वह एएमजी मीडिया नेटवर्क्स के साथ मीडिया व्यवसाय में भी प्रवेश कर रहे हैं। ब्लूमबर्ग के बिलियनेयर्स इण्डेक्स के अनुसार, पहली पीढ़ी के उद्यमी गौतम अडानी की कुल सम्पत्ति वर्तमान में 102 बिलियन डॉलर है। ऑस्ट्रेलिया में सबसे विवादास्पद कोयला खनन परियोजनाओं में से एक का अधिग्रहण करने के बाद, अडानी की कम्पनी दीर्घकालिक ऊर्जा की दिशा में एक मज़बूत धुरी बन रही है। इससे आप समझ ही सकते हैं कि मोदी सरकार जो 5 ट्रिलियन अर्थव्यवस्था का सपना देखती है वह किसके लिए है। ग़रीबों के क़र्ज़ वसूल करने के लिए उनकी झोपड़ी तक नीलाम करवा देने वाली सरकार अपने इन माई-बापों से एक पैसा नहीं वसूल पाती और फिर कई साल बाद उन्हें माफ़ कर दिया जाता है। दरअसल, इस सारी रक़म पर जनता का ही हक़ होता है। सरकार के लिए देश की आज़ादी का मतलब पूँजीपतियों से है न कि जनता से। तभी मज़दूर वर्ग के शिक्षकों ने कहा है कि पूँजीवादी व्यवस्था में सरकारें बर्जुआ वर्ग की मैनेजिंग कमेटी का काम करती हैं।

अब आप तुलना कीजिए "आज़ाद" देश के नागरिक अडानी और उसी देश में रहने वाले एक मज़दूर की। आज़ादी के चीथड़े आपको उस मज़दूर के शरीर पर दिख जायेंगे। इससे साफ़ होता है कि ये आज़ादी हमें मिली ही दाग़दार उजाले के साथ थी। 75

(पेज 15 पर जारी)

तिरंगे झण्डे पर राजनीति करने वाले संघ-भाजपा के तिरंगा प्रेम का सच!

किसी भी देश का ध्वज ऐतिहासिक रूप से निर्धारित होता है। जनता अपने संघर्षों के दौरान अपने ध्वज का चयन और विकास करती है। ध्वज एक प्रतीक के रूप में इसके बलिदानों, संघर्षों और लक्ष्यों को प्रतिबिम्बित करता है। किसी मुल्क में ध्वज उस मुल्क की जनता का प्रतीक तभी बनता है जब उसके साथ जनता का संघर्ष और उसकी आकांक्षाएँ विकासमान हों। इस रूप में संघर्षरत जनता अपने ध्वज को बदलती है और पुराने ध्वज जो शासकवर्गों के प्रतीक में बदल गये होते हैं उन्हें हटाती है। संघर्षरत जनता का अपना ध्वज चुनना एक बात है और प्रतीकों की राजनीति करना, इनके आधार पर लोगों को बाँटना दूसरी। यह सच है कि आज़ादी के दौरान तिरंगा स्वीकारा गया लेकिन आने वाले समय में संघर्षरत भारतीय जनता जो मौजूदा शोषणकारी व्यवस्था के ख़िलाफ़ संघर्ष करती हुई खड़ी होगी, वह अपना ध्वज चुनेगी। लेकिन आरएसएस अलग ही राग अलापता है। यहाँ भी इसकी पश्चगामी प्रवृत्ति ही दिखाई देती है।

दूसरों से बात-बात पर देशप्रेम, संविधान प्रेम और तिरंगा प्रेम का प्रमाण माँगने वाले संघ ने ख़ुद क्या कभी तिरंगे झण्डे को अपनाया? इण्डिया गेट पर योग दिवस पर दिखावा करने वाले प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी तिरंगे से अपनी नाक और पसीना पोंछते दिखे, अगर यही काम किसी ग़ैर-संघी से हो जाता तो भाजपा और संघ उसे 'देशद्रोही' बताने में विलम्ब नहीं करते। दरअसल संघ के लिए हर भावना, हर विचार उसके अपना उल्लू सीधा करने का हथियार है। जब आज़ादी की लड़ाई के दौरान 26 जनवरी 1930 को तिरंगा झण्डा फहराने का निर्णय लिया गया तो आरएसएस के संघचालक डॉ. हेडगेवार ने एक आदेश पत्र जारी कर तमाम शाखाओं पर भगवा झण्डा पूजने का निर्देश दिया। आरएसएस ने अपने अंग्रेज़ी पत्र 'ऑर्गेनाइज़र' में 14 अगस्त 1947 वाले अंक में लिखा :

"वे लोग जो क़िस्मत के दाँव से सत्ता तक पहुँचे हैं वे भले ही हमारे हाथों में तिरंगे को थमा दें, लेकिन हिन्दुओं द्वारा न इसे कभी सम्मानित किया जा सकेगा न अपनाया जा सकेगा। तीन का आँकड़ा अपने आप में अशुभ है और एक ऐसा झण्डा जिसमें तीन रंग हों बेहद ख़राब मनोवैज्ञानिक असर डालेगा और देश के लिए नुक़सानदेह होगा।"

गोलवलकर ने अपने लेख में कहा :

"कौन कह सकता है कि यह एक शुद्ध तथा स्वस्थ राष्ट्रीय दृष्टिकोण है? यह तो केवल एक राजनीति की जोड़-तोड़ थी, केवल राजनीतिक कामचलाऊ तात्कालिक उपाय था। यह किसी राष्ट्रीय दृष्टिकोण अथवा राष्ट्रीय इतिहास तथा परम्परा पर आधारित किसी सत्य से प्रेरित नहीं था। वही ध्वज आज कुछ छोटे-से परिवर्तनों के साथ राज्य ध्वज के रूप में अपना लिया गया है। हमारा एक प्राचीन तथा महान राष्ट्र है, जिसका गौरवशाली इतिहास है। तब, क्या हमारा कोई अपना ध्वज नहीं था? क्या सहस्र वर्षों में हमारा कोई राष्ट्रीय चिह्न नहीं था? निःसन्देह, वह था। तब हमारे मस्तिष्कों में यह शून्यतापूर्ण रिक्तता क्यों?" (एम. एस. गोलवलकर, विचार नवनीत, पृष्ठ- 237)

दरअसल आरएसएस महाराष्ट्रीय ब्राह्मण शासक पेशवाओं के भगवा झण्डे को, जो उसका ख़ुद का भी झण्डा है, भारत का राष्ट्रध्वज बनाना चाहता है।

"हमारी महान संस्कृति का परिपूर्ण परिचय देने वाला प्रतीक स्वरूप हमारा भगवा ध्वज है जो हमारे लिए परमेश्वर स्वरूप है। इसीलिए इसी परम वन्दनीय ध्वज को हमने अपने गुरुस्थान में रखना उचित समझा है। यह हमारा दृढ़ विश्वास है कि अन्त में इसी ध्वज के समक्ष सारा राष्ट्र नतमस्तक होगा।" (गोलवलकर, 'श्री गुरूजी समग्र दर्शन', भारतीय विचार साधना, नागपुर, खण्ड-1, पृष्ठ 98)

लेकिन यही आरएसएस आज पूरे देश में तिरंगे के नाम पर हिन्दू-मुस्लिम कार्ड खेलता है और सबसे बड़ा तिरंगा प्रेमी बनता है। आरएसएस का यह दोमुँहापन दरअसल मुँह में राम बग़ल में छूरी वाला है जो जनता को बेवक़ूफ़ बनाकर उनमें आपसी झगड़ा-फ़साद कराकर पूँजीपतियों की तिजोरियाँ भरता है। जनता की हर भावना से खेलना एवं स्वतंत्रता आन्दोलन के प्रतीकों का इस्तेमाल करना इनकी पुरानी आदत है।

('कौन देशभक्त - कौन देशद्रोही' पुस्तिका से)

मुद्रक, प्रकाशक और स्वामी कात्यायनी सिन्हा द्वारा 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 से प्रकाशित और उन्हीं के द्वारा मल्टीमीडियम, 310, संजय गांधी पुरम, फ़ैज़ाबाद रोड, लखनऊ से मुद्रित। सम्पादक : अभिनव ● सम्पादकीय पता : 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, ातगंज, लखनऊ-226006